बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक

ए. अरविंदाक्षन

सह सम्पादक

कृष्ण कुमार सिंह, शंभु गुप्त

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय हिंदी त्रैमासिक

अंक : 29 (अप्रैल-जून, 2011)

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

प्रकाशन प्रभारी :

डॉ. बीर पाल सिंह यादव

E-Mail : bpsjnu@gmail.com फोन :07152-232943 मो.- 09272132803

सम्पादकीय कार्यालय :

सम्पादक, बहुवचन

प्रतिकुलपति कार्यालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

© सम्बन्धित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार : दान सिंह नेगी

E-Mail : dansnegi@hindivishwa.org फोन :07152-232943 मो.- 09665145282

बिक्री और प्रसार कार्यालय :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत

फोनः 07152-230901, फैक्सः 091-7152-230903 तारः हिन्दीविश्व

पंजीयन सं. : DELHIN/2000/1228

यह अंक : ₹ 50 , वार्षिक सदस्यता : ₹ 200

विदेश में :

हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड

समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा** के नाम से निम्न पते पर भेजें (मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं) :

प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा- 442001 (महाराष्ट्र) भारत (फोनः 07152-230901)

BAHUVACHAN

A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI

Published by Mahatma Gandhi International Hindi University

Post : Manas Mandir, Gandhi Hills, WARDHA-442001 (Maharashtra) India.

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, दिल्ली-110032 (फोन : 09212796256)

अनुक्रम

सम्पादकीय / 5

'बापू कुटी'

सेवाग्राम का बापू-कुटीर / 9
रज़ी अहमद

'हिन्द स्वराज' और आधुनिकता का प्रश्न / 16
इन्द्रनाथ चौधुरी

'हिन्द स्वराज : नवसभ्यता विमर्श' / 27
वीरेन्द्र कुमार बरनवाल

गाँधी से मैंने क्या सीखा / 33
राजकिशोर

गाँधी का साहित्य-चिंतन / 39
श्रीभगवान सिंह

जीवन से परिपोषित आदर्शों के करमचन्द / 48
एम. थॉमस मैथ्यु (अनुवादः उषा नायर)

साहित्य चिंतन

इतिहास में वापसी : धर्म-व्यवस्थाओं की द्वन्द्वात्मकता और विश्व-शांति के कारगर उपायों की खोज (यशपाल के रचना-कर्म का उत्तर-काल) / 51
निर्मला जैन

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में भारत की उपस्थिति की क्रमिक क्षीणता / 58
विजय बहादुर सिंह

मिथिला में ग्रियर्सन / 70
अरुण कुमार

प्रेमचंदः अज्ञेय की दृष्टि में / 82
पल्लव

नवजागरण और हिंदी का जातीय साहित्य / 88
डॉ. ऋषिकेश राय

कविताएँ

प्रयाग शुक्ल / 99
जितेन्द्र श्रीवास्तव / 104
वसंत त्रिपाठी / 113

कहानी

भूगोल के दरवाजे पर / 117
तरुन भटनागर

भाषांतर

भूमंडलीकरण और भारतीय भाषाएँ / 127
डॉ. समुर्तीद्र नाडिग
अनुवाद : प्रो. (डॉ.) टी.आर.भट्ट

सम्पादकीय

बहुवचन के इस अंक में विशेष सामग्री के रूप में गाँधी जी पर केंद्रित कुछ विचारपूर्ण आलेख हम दे रहे हैं। सेवाग्राम (वर्धा) में गाँधी जी ने अपने दूसरे आश्रम की स्थापना की थी, जो 'बापू कुटी' के नाम से प्रसिद्ध है। जून के महीने में 'बापू कुटी' की हीरक जयंती मनायी गयी थी। वर्धा में कई महत्वपूर्ण आयोजन भी हुए। यह तो सर्वविदित बात है कि गाँधी जी के विचारों की प्रासंगिकता आज बढ़ती जा रही है। वैश्वीकृत परिवेश में एक सार्थक वैकल्पिक वैचारिकी के रूप में गाँधी जी के विचार समाज सेवियों, चिंतकों, अकादमिक विशेषज्ञों एवं सामान्य जनता के लिए उत्प्रेरक रहे हैं। यह भी है कि उनके कुछ विचार सर्वस्वीकृत तो नहीं हुए फिर भी ज्ञान क्षेत्र में उनकी उपस्थिति निर्विवाद है।

'बापू कुटी' एक ऐसा प्रतीक-स्थान है जहाँ परिश्रम, स्वालंबन, आत्मविश्वास, लालित्य को प्राथमिकता दी जाती रही है। कर्मठता, आडंबरहीनता उसकी विशेषता है। सर्वधर्म के प्रति उत्सुकता और प्रेरणा प्रदान करने का वातावरण भी 'बापू कुटी' के विशाल प्रांगण में हमें प्राप्त होता है। इस प्रतीक-स्थान रूपी गाँधी जी के आश्रम ने भारत तथा विदेशों के कई लोगों को आकर्षित किया है और अब भी वह आकर्षित कर रहा है। यह जरूर है कि इस आकर्षण के पीछे गाँधी जी का पारदर्शी व्यक्तित्व और उनके अमूल्य विचार हैं। इन दोनों के अलावा एक और अहम बात यह भी है कि तमाम तनावों, भेदभावों, शीतयुद्धों एवं लड़ाईयों से भरे इस संसार के बहुसंख्यक लोग इन बातों के पक्षधर नहीं हैं। वे सद्भावना के पक्षधर हैं। शायद 'बापू कुटी' के आकर्षण के पीछे यही सद्भावना है जो मनुष्य की स्थायी संवेदना भी है।

अतः 'बहुवचन' का यह अंक 'बापू कुटी' के लिए समर्पित है। ऐसे विशेषज्ञों के आलेख इस अंक में हमने दिये हैं जिनमें गाँधी जी के विचारों की आज की वैश्लेषिकी उपलब्ध होती है।

अलावा इसके कई महत्वपूर्ण आलेख इस अंक में शामिल किये गए हैं। निर्मला जैन का 'इतिहास में वापसी : धर्म-व्यवस्थाओं की द्वन्द्वात्मकता और विश्व-शांति के कारगर उपायों की खोज (यशपाल के रचना-कर्म का उत्तर-काल)', विजयबहादुर सिंह का 'स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में भारत की उपस्थिति की क्रमिक क्षीणता', अरुण कुमार का 'मिथिला में ग्रियर्सन', ऋषिकेष राय का 'नवजागरण और हिंदी का जातीय साहित्य' ऐसे ही आलेख हैं। ये पाठकों का ध्यान आकर्षित करेंगे, ऐसा विश्वास है। उम्मीद है, यह अंक आपको संग्रहणीय और प्रेरणाप्रद लगेगा।

ए. अरविंदाक्षन

मूर्तिशिल्प : गांधी स्मृतिवन, नई दिल्ली

‘बापू कुटी’

सेवाग्राम का बापू-कुटीर

रज़ी अहमद

सोवियत रूस अभी बिखरा नही था और उदारवादी कहे जाने वाले मिखाईल गोर्वाचौव का ज़माना था। उनके ''प्राईस्ट्रोईका'' की नीति की विश्वव्यापी चर्चा हो रही थी और रूस में एक नये युग की शुरूआत की आहट लोग महसूस कर रहे थे। उन दिनों मैं राष्ट्रीय गाँधी संग्रहालय, नई दिल्ली, का निदेशक/सचिव था। एक दिन सोवियत दूतावास के फर्स्ट सिक्रेटरी के दफ्तर से किसी अधिकारी का फोन मेरे पास आया कि ''ओरियन्टल स्टाडीज़'', मास्को, की निदेशिका आपसे मिलना चाहती हैं, आप किस समय उपलब्ध हो सकते हैं। मैंने कहा मैं सवेरे १० बजे से शाम के ६ बजे तक दतर में ही रहता हूँ, अपनी सहूलियत देखकर वह फोन करके जब चाहें आ सकतीं हैं। दूसरे दिन करीब ११ बजे वह अपने स्टाफ के साथ आईं। नाम अभी याद नहीं, बड़ी भद्र और सुशील महिला थीं। रस्मी औपचारिकता के बाद मैंने उनके गाँधी संग्रहालय आने का मकसद जानना चाहा (कम्युनिस्ट तो गाँधीजी को पूंजीवादी-साम्राज्यवादियों का दलाल, औद्योगिक विकास विरोधी और जाने क्या-क्या मानते रहे हैं, उस विचारधारा पर स्थापित एक सुपर-पॉवर देश, सोवियत रूस, की एक पदाधिकारी को गाँधीजी में दिलचस्पी; मुझे हैरत हो रही थी।) उन्होंने कहा कि सोवियत सरकार ने गाँधीजी की एक प्रामाणिक जीवनी तैयार कर प्रकाशित करने की ज़िम्मेदारी उन्हें सौंपी है और उस कार्य में उनको मेरा सहयोग दरकार है। मुझे आश्चर्य के साथ खुशी भी हुई कि शायद अब कम्युनिस्ट देशों में बर्फ पिघली है और गाँधीजी संबंधी उनकी सोच बदल रही है। वह बहुत अच्छी हिन्दी जानती थीं, कई रूसी पुस्तकों का उन्होंने हिन्दी में अनुवाद किया है। हम हिन्दी में ही बात कर रहे थे।

अपने बारे में बताते हुए उन्होंने कहा कि जब वह कॉलेज की छात्रा थी तब ''इंडो-सोवियत-सांस्कृतिक-एक्सचेंज कार्यक्रम'' के तहत जवाहर लाल नेहरू जी के समय कई बार हिन्दुस्तान आई हैं, और हिन्दुस्तान के मशहूर ऐतिहासिक स्थलों को देखा है। पंडित

जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद जब मैं हिन्दुस्तान आई तो एक साथ राजघाट और शांति-वन देखने का प्रोग्राम बनाया। प्रोग्राम के अनुसार मैं पहले राजघाट, गाँधी समाधि गई और फिर शांति-वन, नेहरू समाधि। दोनों समाधियों पर श्रद्धालुओं की संख्या को देखने के बाद मैं अजीब आश्चर्य भरी उलझन में पड़ गई। मैं सोचने लगी.....गाँधीजी तो कभी सत्ता में रहे ही नहीं, फिर भी उनकी समाधि पर श्रद्धालुओं की हमेशा भीड़ लगी रहती है, लम्बी कतार और व्यापक व्यवस्था के बावजूद अक्सर वहाँ विधि-व्यवस्था की समस्या पैदा हो जाती है..... और जवाहरलाल नेहरू तो स्टेट सत्ता के केन्द्र रहे, लम्बी अवधि तक विश्व के सबसे बड़े माने जाने वाले प्रजातंत्र हिन्दुस्तान के प्रधानमंत्री रहे, उनकी समाधि तक ले जाने के लिए अच्छी बसों की व्यवस्था रहने के बावजूद लोग वहाँ क्यों नहीं जाते? वहाँ श्रद्धालुओं की भीड़ क्यों नज़र नही आती? मेरे दिल में उत्सुकता पैदा हुई और मैंने महात्मा गाँधी को समझने की दृष्टि से उनकी लम्बे अवधि तक हेडक्वाटर रहे ''सेवाग्राम'' को पहले देखने का तय किया। और मैं वहाँ शक्तिशाली देश सोवियत रूस के दूतावास के एक प्रतिनिधि के रूप में गई। जब मैं ''सेवाग्राम'' की उस छोटी सी बांस-मिट्टी और खपड़े से बनी झोपड़ी ''बापू कुटीर'' के सामने पहुंची तो मेरी अजीब कैफ़ियत हो गई, मैं अपने ऊपर काबू नही रख सकी, भावुक होकर मैं रोने लगी। मेरी बेचैनी को देख कर वहाँ मौजूद लोग हैरान थे, मुझे क्या हो गया? जब तबियत कुछ सम्भली तो मैं सोचने लगी, क्या यह जगह उसी महान व्यक्ति के रहने की है जिसने दुनिया के सबसे बड़े साम्राज्य को परास्त कर हिन्दुस्तान से वापस चले जाने पर मजबूर कर दिया था? एक साधारण ग़रीब हिन्दुस्तानी की झोपड़ी की तरह की ही एक झोपड़ी। एक ऐसी झोपड़ी जिसमें न कोई चौखट है और न किवाड़ ही, दरवाज़े पर लटकी हुई टाट, सोने के लिए ज़मीन पर चटाई बिछी हुई, और ज़मीन भी मिटट्री से पुती हुई। न कोई कुर्सी न कोई फर्नीचर। विशेष मुलाकातियों के बैठने के लिए ब्रुकबौंड चाय का एक बड़ा लकड़ी का ख़ाली डिब्बा और उस पर तह किया एक काला कम्बल। यह थी उस व्यक्ति के रहने की जगह जिसके हल्के इशारे पर करोड़ों लोग कुछ भी कर गुज़रने को तैयार रहते थे। हम लोगों को कितने अंधकार में रखा गया! यह व्यक्ति पूंजीपतियों का एजेन्ट कैसे हो सकता है.. न रहने की माकूल जगह, न बदन पर पूरा कपड़ा। एक लंगोटी और दो गज़ की चादर बदन ढकने के लिये, दो चरखे और एक लालटेन के अलावा अपनी कही जाने वाली कोई सम्पत्ति जिसके पास नहीं, पूंजीवादियों का एजेन्ट, बार-बार यह सवाल मुझे परेशान कर रहा था। आज भी सोवियत रूस की इन्साईक्लोपीडिया में गाँधीजी के लिये औद्योगिक विकास और मशीन विरोधी, पुरातनवादी विचारों का पोषक, पूंजीवादी व्यवस्था का समर्थक जैसी जानकारियाँ दर्ज हैं। मैं अजीब ज़ेहनी कश्मकश में पड़ गई। लेकिन इस नतीजे पर तो पहुँच ही गई थी कि उस व्यक्ति के अन्दर ज़बर्दस्त नैतिक आत्मबल रहा होगा, तब ही तो वह इतने लोकप्रिय रहे और दुनिया के चन्द विशिष्ट व्यक्तियों में एक माने गये।

वहाँ से लौटने के बाद गाँधी साहित्य के माध्यम से उस प्रभावकारी व्यक्ति की नये सिरे से खोज मैंने शुरू की। अब तक के अध्ययन के बाद मैं इस नतीजे पर पहुँची हूँ कि हमें पूरी तरह गुमराह किया गया है और ग़लत धारणाओं पर हमारी सोच की जो इमारत बनी है उसमें बुनियादी सुधार बहुत ज़रूरी है।मैं जो पुस्तक लिखने वाली हूँ उसमें मुझे आपका सहयोग चाहिये, ताकि ग़लतफहमियाँ दूर की जा सकें। यह तो मेरे लिए बड़ी खुशी की बात थी। मैंने अंग्रेज़ी-हिन्दी की कई पुस्तकें और गाँधीजी से सम्बन्धित ढेर सारे फोटोग्राफ उन्हें दिये थे। पता नही वह पुस्तक प्रकाशित हुई या नही। मेरा उनसे फिर कोई सम्पर्क नही रहा, मैं पटना वापस आ चुका था।

''सेवाग्राम'' की ''बापू कुटीर'' आज़ादी की लड़ाई के दरमियान यहाँ जो अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक निर्णय लिये गये उसकी साक्षात गवाह है। इसके आस-पास ''इंडिया'' का प्रतिनिधित्व करते बहुत कुछ बन जाने के बावजूद आज यह जगह उजड़ी हुई सी लग रही है, यहाँ मायूसी छाई हुई है। कुछ दिनों पहले तक यहाँ काफी चहल-पहल रहती थी, शांत माहौल में जिन्दगी उछलती-कूदती नज़र आती थी। अब न पहले जैसे समर्पित लोग रहे, न वह माहौल ही। ''बापू कुटीर'' और ''आश्रम परिसर'' उस ''हिन्दुस्तान'' का प्रतिनिधित्व करते रहे हैं जो यहाँ के छह लाख गाँवों में बसता है और जिसकी आज़ादी, सम्वर्धन और आत्म निर्भरता को ध्यान में रखकर आज़ादी की लड़ाई लड़ी गई थी। अजीब विडम्बना है कि आज़ादी के इतने दिनों के बाद भी हिन्दुस्तान के अधिकांश गांवों में वैसा ही सन्नाटा छाया हुआ है जैसा आज आश्रम परिसर में पसरा हुआ है।

महात्मा गाँधी ने ऐतिहासिक नमक सत्याग्रह के लिए कूच करते हुए १२ मार्च १९३० को ''साबरमती आश्रम'' को अलविदा कहा था। उन्होंने यह प्रण किया था कि जब तक हिन्दुस्तान आज़ाद नही होता वह ''साबरमती'' नहीं लौटेगे। १५ अगस्त १९४७ को हिन्दुस्तान आज़ाद हो गया लेकिन गाँधीजी को अपने ''साबरमती आश्रम'' जाने का मौका नही मिला। जेल से रिहाई के बाद वह वर्धा आकर ठहरे और फिर जब ''सेगांव'' ने ''सेवाग्राम'' का रूप ले लिया वह वहाँ आ गये और उस स्थान से गाँधीजी का नाम जुड़ गया। आज भी उसके चप्पे-चप्पे पर गाँधीजी के कदमों के निशान मौजूद हैं, वहाँ जो मंत्रणाएँ हुईं उसकी प्रतिध्वनि आज भी आश्रम परिसर में उसे सुनने वालों को सुनाई देती है। वहाँ पर भावी आज़ाद हिन्दुस्तान के सपने देखे गये, उसका ब्लूप्रिन्ट तैयार हुआ लेकिन आज़ादी के बाद गाँधीजी को छह महीने के अन्दर ही शहीद कर दिया गया, उस ब्लूप्रिन्ट पर हिन्दुस्तान को विकसित किया जाना है, कहने वाला ही नहीं रहा ....।

वैष्णव जन तो तेने कहिये रे, जो पीड़ पराई जाने रे..... वहाँ आज भी सुबह और शाम दोहराये जाते हैं, पर वह एक औपचारिकता सी बन कर रह गई है।

हिन्दुस्तान की राजनीति में गाँधीजी के सक्रिय होने से पहले कई प्रभावकारी व्यक्ति और संगठन अपनी-अपनी रणनीति के तहत सामाजिक सुधार और आज़ादी के जद्दोजेहद में लगे हुये थे। उनकी अपनी-अपनी पहचान भी थी, लेकिन उनकी पद्धति जनमानस को प्रभावकारी तौर से अपनी ओर आकृष्ट करने में कामयाब नहीं हो रही थी। एक तरफ बड़े वकीलों और बैरिस्टर के ड्राइंग रूम थे और साल में एक बार बैठकर कुछ प्रस्ताव पारित कर लेना, उन्हें सरकार को भेज देना, तो दूसरी तरफ क्रांतिकारियों के हिंसक तौर-तरीक़े। उनकी कुर्बानियों के प्रति लोग संवेदनशील ज़रूर थे, उनकी देश भक्ति की प्रशंसाएँ भी हो रही थी, लेकिन उनका कार्यक्षेत्र सिमटा-सिमटा सा ही रहा। आज़ादी की लड़ाई को जनसाधरण से जोड़कर गाँधीजी ने उसे प्रभावकारी ढंग से व्यापक बना दिया।

१९१५ में मोहनदास करमचन्द गाँधी दक्षिण अफ्रीका के प्रयोगों की भट्ठी से निकले एक कारगर शस्त्र ''सत्याग्रह'' से लैस होकर हिन्दुस्तान लौटे थे। १९१६ के लखनऊ कांग्रेस में वह पहली बार एक डेलीगेट की हैसियत से शरीक हुए थे, जहाँ ज़्यादातर लोग उन्हें जानते-पहचानते भी नहीं थे। यहाँ कांग्रेस के सर्वमान्य नेतागण लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, गोपाल कृष्ण गोखले, पंडित मदन मोहन मालवीय, मोहम्मद अली जिन्ना मौजूद थे। और इन नेताओं ने सेपरेट प्रतिनिधित्व की बुनियाद पर मुस्लिम लीग के साथ मिलकर आज़ादी की लड़ाई लड़ने का महत्वपूर्ण समझौता किया था। बिहार के चम्पारण में किसानों के बीच काम करने वाले राज कुमार शुक्ल ने

चम्पारण के किसानों की पीड़ा से उन नेताओं को अवगत कराने की कोशिश की थी। लोकमान्य तिलक, मालवीय जी आदि के सामने किसानों की व्यथा रखी गई थी, पर उन लोगों ने उसमें कोई रूचि नहीं दिखलाई। राजकुमार शुक्ल और ब्रजकिशोर प्रसाद ने दक्षिण अफ्रीका के ख्याति प्राप्त गुजरात के मोहनदास करमचन्द गाँधी से वहीं मुलाकात की और अपनी बातें उनके सामने रखी। उन्होंने उनकी बातों को गम्भीरता से सुना और सहयोग का आश्वासन दिया, लेकिन उससे पहले चम्पारण की स्थिति को खुद देखना ज़रूरी समझा। और वही महत्वपूर्ण घड़ी थी जब चम्पारण सत्याग्रह (१९१७) की शुरूआत का बीज ही नहीं पड़ा, बल्कि हिन्दुस्तान की आज़ादी की लड़ाई के एक नये युग की शुरूआत भी हुई। यहाँ के तर्जुबे के आधार पर ही गाँधीजी को हिन्दुस्तान की राजनीति में प्रभावकारी हस्तक्षेप करने का सुअवसर मिला। इस हकीकत को खुद गांधीजी ने स्वीकारा है कि चम्पारण ने उन्हें हिन्दुस्तान से परिचित कराया। हम देखते हैं कि १९२० तक पहुंचते-पहुंचते स्वतंत्रता संग्राम की कमान ही उनके हाथों में आ गई। अतः १९१६ का लखनऊ कांग्रेस-अधिवेशन हिन्दुस्तान के इतिहास में कई मायनों में बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाता है।

१९३१ के दूसरे गोलमेज़ कान्फ्रेंस में गाँधीजी कांग्रेस के एक मात्र प्रतिनिधि के रूप में शामिल हुए थे। वहाँ जाते समय मार्शलीज बन्दरगाह में गाँधीजी ने अपने सपनों के जिस भारत की तस्वीर स्पष्टता से पत्रकारों के सामने रखी थी उस योजना के बीज चम्पारण में ही अंकुरित हुए थे। बिहार के चम्पारण में गाँधीजी उस हिन्दुस्तान से रू-ब-रू हुये थे जिसे देखने की उन्हें सलाह उनके राजनैतिक गुरू गोखले ने दी थी। घोर ग़रीबी, अशिक्षा, अविश्वसनीय शोषण, गहरे अंधविश्वास की फिज़ा में रहने वाले गांव के लोगों की व्यथा ने उन्हें विचलित कर दिया था। ग्रामीणों की नेजात में ही हिन्दुस्तान की नेजात है, वह इस नतीजे पर पहुँचे, और वही जगह उनकी ''सत्याग्रह'' की हिन्दुस्तान में पहली प्रयोगशाला बनी। जब नेपाल की तराई के बीहड़ों में उन्होंने चटाईयों पर आधारित पहला स्कूल बरहरवा लखनसेन में खोला, भितिहरवा में दूसरे स्कूल की नींव डाली और एक ग़रीब महिला के गंदे कपड़े की सफाई के लिए विलायती साबुन का नाम न लेकर स्थानीय तौर पर उपलब्ध खरया-मिट्टी और केले के जलाये पत्तों की राख का नुस्ख़ा सुझाया था, वही हिन्दुस्तान और वही हिन्दुस्तानी मुख्यतया उनके नज़रों के सामने थे, जिनकी तकदीर उनके मार्ग-दर्शन में बदली जानी थी। मार्शलीज में गाँधीजी ने स्पष्ट किया था कि वह हिन्दुस्तान के लिए एक ऐसी संवैधानिक व्यवस्था की कोशिश करेंगे जहाँ बिना धर्म, ज़ात और लिंग के भेदभाव के यहाँ का ग़रीब से ग़रीब आदमी भी यह समझे और महसूस करे कि यह देश उसका है और उसके बनाने, संवारने और उसकी तकदीर बदलने में उसकी भी कुछ भूमिका रही है।

गाँधीजी के नेतृत्व में आज़ादी की लड़ाई की मंज़िल ''स्वतंत्रता'' अवश्य रही लेकिन लक्ष्य ''स्वदेशी'' अर्थनीति पर विकसित ''स्वराज्य'' रहा है, जो अपने आप में स्पष्ट और व्यापक आधार लिये हुए है- स्वतंत्रता, सर्वभौमिकता, आत्मनिर्भर और आत्म सम्मानी देश हिन्दुस्तान की परिकल्पना। स्वतंत्रता संग्राम के बीच जो राजनैतिक और आर्थिक पहलू बहस में आते रहे वे इन्हीं मुद्दों पर केन्द्रित रहे हैं। लेकिन आज़ादी के बाद छह महीने के अन्दर गाँधीजी को मार डाला गया। आज़ादी के बाद विकास की जो नीति अपनाई गई वह ''स्वदेशी'' और ''स्वराज्य'' की मंज़िल पर पहुँचने के रास्ते में बाधक बनती गई और आज उसकी पराकाष्ठा आर्थिक गुलामी के रूप में हमारे सामने है।

बात उन्हीं दिनों की है जब दिल्ली सहित देश के बड़े हिस्से में साम्प्रदायिक दंगों ने भयानक

माहौल बना रखा था और आज़ाद हिन्दुस्तान अपनी अग्नि परीक्षा से गुज़र रहा था, गाँधीजी की जे.डी.बिरला से देश की उलझी परिस्थिति पर बातें हो रही थी। बिरलाजी ने गाँधीजी से कहा; बापू अब देश तो आज़ाद हो गया, आपका दूसरा कदम क्या होगा? गाँधीजी ने हंसते हुए उत्तर दिया, ''अब आपसे लड़ाई''। सतही तौर पर देखा जाए तो यह एक हल्का-फुल्का विनोद था, पर उसकी गहराई में पैठ संजीदगी से ग़ौर किया जाय तो गाँधीजी की उस ग़रीब देश के प्रति प्रतिबद्धता स्पष्ट होती है जिसकी अधिकांश आबादी पैसे वालों के कुचक्रों की शिकार रही है। उनके सपनों का ''स्वराज्य'' तो उसी वक्त वास्तविक रूप ले सकता है जब यहाँ की अन्तिम पायदान पर स्थित अन्तिम आदमी की आंखों से आंसू पोंछना सम्भव हो सकेगा। लेकिन परिस्थिति कुछ इस तरह तेज़ी से बदली कि वह सपना सपना ही रह गया।

मार्क्स और गाँधी, दोनों विचारकों ने जनसाधारण के शोषण और ग़रीबी की जड़ों में पैदावार के साधनों की निजी मिलकियत में होना माना है। दोनों ने ही निजी सम्पत्ति और पूंजीवादी व्यवस्था में पैदावरी तंत्र के आधिपत्य के प्रश्नों पर सवाल उठाये हैं। दोनों ने ही इस सिद्धांत पर ज़ोर दिया कि पूंजी से हुई आय का निजी उपयोग के बजाय सामाजिक उपयोग होना चाहिए। स्टेट, स्टेट के कर्त्तव्य और सामाजिक ज़िम्मेदारियों के प्रश्न पर दोनों की सोच अलग होती नज़र आती है। मार्क्सवाद ने सोशलिस्ट स्टेट, स्टेट-औनरशिप और कम्युनिस्ट पार्टी के सहारे पौलिटोरियट की डिक्टेटरशिप पर भरोसा करते स्टेट के ख़त्म हो जाने का सपना देखा था। लेकिन मार्क्सवादी लेनिन और स्टालिन ने ज़ोर ज़बरदस्ती जिस व्यवस्था को स्थापित करने की कोशिश की वह स्टेट के समाप्त होने की प्रक्रिया के बजाय स्टेट को अत्याचारों और जुल्मों के आधार पर स्थाई बनाने के कदम सिद्ध हुए। और अब सोवियत रूस की स्थापना के नब्बे वर्षों के बाद मार्क्सवाद के प्रयोग-क्षेत्रों में पूंजीवादी व्यवस्था पूरी तरह जड़ जमा चुकी है। और वहाँ की लीडरशिप कम्युनिज़्म के नाम पर किये ग़लत कार्यों की सफाई देने में अपने अन्दर कोई नैतिक बल नही पा रही है। यहाँ मार्क्स का सपना टूटता हुआ नज़र आता है।

गाँधीजी ने अपने मानव मूल्यों पर आधारित परिकल्पनाओं को एक स्ट्रक्चर के साथ मज़बूत दार्शनिक बुनियाद प्रदान करने की कोशिश को प्राथमिकता दी थी और इसी क्रम में उनके ''रचनात्मक कार्यक्रम'' और विक्रेन्द्रित राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था के विचार सामने आये थे। स्वतंत्रता संग्राम की अपनी व्यस्तता और फिर आज़ादी के बाद जो स्थिति बनी उस माहौल में उन्हें अपनी परिकल्पनाओं को वैज्ञानिक आधार देकर प्रयोग करने का मौका ही नहीं मिला। और उनके बाद उनके अनुयायिओं ने उसकी पूरी उपेक्षा की। देश का दुर्भाग्य रहा कि गाँधीजी के बाद उनके विचारों पर संजीदगी से अमल करना तो अलग रहा, पश्चिमी विचारों और विकास मॉडल से प्रभावित लीडरशीप और बुद्धिजीवियों की ग़ैर लचीली मानसिकता, उस पर गहराई से ग़ौर भी नही कर सकी, उसे ग़ौर करने के योग्य भी नही समझा। नतीजतन ६४ वर्षों की आज़ादी के बाद और बहुत सी उपलब्धियों के बावजूद भी हमारे अन्दर न राष्ट्रीय चरित्र विकसित हो सका, न पुरुषार्थ ही और हम आत्मनिर्भर तो बन ही नहीं सके। उल्टे ८७ करोड़ लोगों की २० रूपये प्रति दिन की आमदनी, २० करोड़ घरों में रात में चूल्हों का नहीं जलना, २४-२५ करोड़ के करीब बेकार स्वस्थ नौजवान, भूमंडलीकरण और डब्लू.टी.ओ. की चल रही घात-प्रतिघात, आई.आई.टी. का मायाजाल और मृगतृष्णा के पीछे भाग रही हिन्दुस्तान की नई नस्ल, ज्वलन्त प्रश्नों की तरह हमारे सामने खड़े हैं। इस ग़रीब देश हिन्दुस्तान के एक छोटे से समृद्ध वर्ग, पंगु और बिकाऊ नौकरशाही और खुदगर्ज़ लीडरशीप ने ११० करोड़ से ज्यादा लोगों के भविष्य को ही दाँव

पर लगा दिया है। गाँधीजी ने ''हिन्द स्वराज'' में बड़ी स्पष्टता से कहा था कि यहाँ का समृद्ध वर्ग ग़रीबों का हितैषी नहीं। बदकिस्मती से आज भी वही स्थिति मौजूद है।

हिन्दुस्तान के किसानों ने अपना खून पसीना एक करके खाद्यान के मामले में आत्म निर्भरता प्राप्त कर एक कीर्तिमान स्थापित किया है। आज हमारी सरकारें उसकी उपलब्धियों पर पानी फेरने जैसा रुख अपनाये हुये हैं। आज भी हिन्दुस्तान की ७०-८० प्रतिशत आबादी गांव में रहती है और मुख्यतः वह खेती पर ही निर्भर है। अपना पसीना बहा कर वे शहरवालों का पेट भरते हैं, उनके लिए ऐश-व-आराम के सामान मुहैय्या कराने में अहम भूमिका निभा रहे हैं, लेकिन उनकी ज़मीनों पर विकास के नाम पर मल्टीनेशनल कम्पनियों के हितों के मद्देनज़र कल-कारख़ाने खोलने की आड़ में आफत के बादल छाये हुये हैं। लाखों किसानों ने पूरे देश में, ख़ासकर कहे जाने वाले विकसित प्रदेशों में, आत्महत्या की हैं, इस पर हमें संजीदगी से सोचना होगा। अपनी वास्तविकताओं की अनदेखी करते हुये वैश्वीकरण की पक्षधर बिरादरी में शामिल होने की कोशिश में चौबे गये छब्बे बनने, दूबे बनकर लौटे, वाली कहावत हम पर चरितार्थ न हो जाये यह ख़तरा बढ़ गया है।

वैश्वीकरण की नीतियों के परिप्रेक्ष में कई अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन सामने आये हैं जो स्पष्ट शब्दों में विश्व-बिरादरी को सर्तक करते हुए आगाह करते हैं कि आने वाले दिनों में आर्थिक हैसियत से अमीर और ग़रीब देशों के बीच खाई बढ़ेगी, अमीर देश ज्यादा अमीर होंगे और ग़रीब देश ज़्यादा ग़रीब। और अमीर और गरीब देशों के अमीरों और गरीबों के बीच भी उसी अनुपात में दूरी बढ़ेगी। अशिक्षित और शोषण की मार झेल रहे देशों में व्याप्त ग़रीबी उनके आत्मविश्वास को कमज़ोर बनाते हुये संकीर्णता और अंधविश्वास को अनेक तरह से बढ़ावा देगी । शुद्ध सत्ता की राजनीति करने वाले तत्व कभी साम्प्रदायिकता का पांसा फेंकते नज़र आयेंगे तो कभी जात-पात के मुद्दों को बढ़ाकर सत्ता हथियाने का खेल खेलते मिलेंगे। नतीजतन विकासशील देश, ख़ासकर विभिन्नताओं और प्लूरल समाज वाले देशों के सामने संघर्ष दर संघर्ष रूपी विकृत स्थिति में फंस जाने का ख़तरा पैदा हो जायेगा। उस स्थिति का फायदा अनिवार्य रूप से उन शक्तियों को ही मिलेगा जो अविकसित और विकासशील देशों में आर्थिक उपनिवेशवाद का जाल बिछाने में तत्परता से लगे हुए हैं। इन चेतावनियों के मद्देनज़र जब हम हिन्दुस्तान की वर्तमान उलझनों को देखते हैं तो दीवार पर लिखी पत्थर की लकीर की तरह स्पष्ट जो नक्शा उभरता है, वह कोई अच्छा नक्शा नही है। जो संकेत मिल रहे हैं उससे ज़ाहिर हो रहा है कि हिन्दुस्तान का वह बुद्धिजीवी शासक वर्ग जिसने उस आम-जनता को जिसकी अधिकांश आबादी अशिक्षित है, ग़रीब है, लगातार सब्ज़बाग दिखाकर मायाजाल में उलझा रखा है, उनकी चिताओं पर अपनी रोटियाँ सेकीं हैं, अब उनके लिए भी आने वाले दिन आसान नही रहेंगे। वंचितों की फौज उनसे भी दो-दो हाथ करने की तैयारी पूरे देश के १२२ ज़िलों में कर रही है।

नमक सत्याग्रह के बीच गिरफ़्तारी और जेल की सज़ा काटने के बाद २६ जनवरी १६३५ को गाँधीजी वर्धा के मगनबाड़ी पहुंचे थे। झोपड़ियों के बन जाने के बाद १६ जून १६३६ को वह सेवाग्राम चले आये और यही आश्रम साबरमती आश्रम के बाद उनका हेडक्वार्टर बना। शुरू में गाँधीजी और कस्तूरबा गाँधी यहाँ आये फिर आश्रम के अन्य सहयोगी भी यहाँ आ बसे। १७ मार्च १६४५ को गाँधीजी ने आश्रम के अपने एक वरिष्ठ सहयोगी श्री बलवन्त सिंह को लिखा थाः

''मेरी मान्यता है कि सेवाग्राम कभी टूटेगा नहीं। रूपान्तर भले ही हो, जैसा साबरमती का हुआ। मेरे जिन्दा रहते हुये और काम करते हुये सेवाग्राम में बहुत परिवर्तन नही होगा। मैं करना

भी नही चाहता ..... जिनको सेवाग्राम का मोह है वे तो सेवाग्राम न आज सर्वथा छोड़ेंगे, न मेरे जाने के बाद।''

हिन्दुस्तान की आज़ादी का निर्णायक दौर था और सियासी बिसात पर दाव-पेंच के खेल चल रहे थे । उस व्यस्तता के बीच गाँधीजी सेवाग्राम में ६ से २५ अगस्त १९४६ तक रहे और यह उनकी अन्तिम यात्रा थी। उन्होंने २४ अगस्त को सेवाग्राम वासियों को सम्बोधित करते हुए कहा था: ''मैं कल दिल्ली जा रहा हूँ, पता नही मैं कब वापस आऊँगा।'' और वह फिर वापस नहीं आये.....। सत्ता के हस्तांन्तरण की राजनीति की कश्मकश चल रही थी और साम्राज्यवादी अंग्रेज़-मदारी हाथ में निर्णय की डुगडुग्गी लिये यहाँ के नेताओं से करतबें करवा रहा था। हिन्दुस्तान के बड़े हिस्से में साम्प्रदायिकता का तांडव चल रहा था और गाँधीजी की हालत एक अनार सौ बीमार वाली हो गई थी। उनके अन्तिम दिन ना ''सेवाग्राम'' में गुज़रे ना ''साबरमती आश्रम'' में। दोनों ही आश्रम उस व्यक्ति की राह देखते ही रह गये जिनके नाम के साथ जुड़कर उन जगहों की विशिष्ट प्रतिष्ठा और पहचान बनी थी ।

महान वैज्ञानिक आइन्सटाईन ने कहा था कि भविष्य की नस्लें मुश्किल से यकीन करेंगी कि हाड़-मांस का एक ऐसा व्यक्ति इस धरती पर पैदा हुआ था। और वह व्यक्ति जिसने अपनी सार्वजनिक ज़िन्दगी का सफर दक्षिण अफ्रीका के रंग-भेद की नीतियों के विरूद्ध संघर्षों से शुरू किया था, अपने अन्तिम दिनों में भी वह आज़माईशों के कठिन दौर से गुज़र रहा था। उसकी सत्य, अहिंसा, मानवता और साम्प्रदायिक एकता की मान्यताएँ आग और ख़ून की नज़र हो रही थीं। लेकिन अपनी प्रतिबद्धताओं की सलीब उठाये वह व्यक्ति चौराहे पर अकेला अडिग खड़ा नज़र आ रहा था और उसके अनुयाई सत्ता के खेल में व्यस्त थे। इस अग्नि परीक्षा की परिस्थिति से रू-ब-रू गाँधीजी के बारे में महान दार्शनिक होम्स की निम्न टिप्पणी सटीक नज़र आती है:

''जब मैं लेनिन के बारे में सोचता हूँ तो नेपोलियन की याद आती है। जब रोमा रोलां का स्मरण करता हूँ तो टाल्सटाय की तस्वीरें सामने दिखती है, पर गाँधी के बारे में जब विचार करता हूँ तो ईसा-मसीह की छवि सामने उभरती है।''

सेवाग्राम की जिस ''बापू-कुटीर'' के सामने पहुँच कर हज़ारों एटम बमों से लैस सुपर पॉवर सोवियत रूस की एक महिला अधिकारी इस अपराधबोध से दबी फफक-फफक कर रोने लगी थी कि उसने और उन जैसे हज़ारों कम्युनिस्टों और बुद्धिजीवियों ने मानव मूल्यों को समर्पित इस व्यक्ति को पहले क्यों नहीं जाना और समझा? एटम बमों की ढेर पर स्थित दुनिया आज उस ''कुटीर'' के निवासी को ''मैन ऑफ द मिलिनियम'' और ''मैन आफ ऑल टाईम'' मानने को मजबूर है, क्योंकि उसकी विचारधारा ही मानव सभ्यता को विनाश से बचा सकती हैं, यह दुनिया आज स्वीकार करने पर मजबूर हो चुकी है। हम हिन्दुस्तानी उसे कब पहचानेंगे?

'हिन्द स्वराज' और आधुनिकता का प्रश्न

इन्द्रनाथ चौधुरी

आज उत्तर-आधुनिक युग में ऐसी कई समस्याओं से हम जूझ रहे हैं जिनके समाधान के लिए सन् १९१० में मोहनदास करमचन्द गाँधी के द्वारा लिखी गई 'हिन्द स्वराज' पुस्तक काफी महत्वपूर्ण सिद्व हो सकती है। लंदन से दक्षिण अफ्रीका लौटते हुए गाँधी जी ने नवम्बर में १९०९ संवाद शैली में गुजराती में 'हिन्द स्वराज' लिखा था। दिसम्बर १९०९ में 'इंडियन ओपिनयन' में गुजराती मूलरूप में यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी। जनवरी १९१० में इसका पुस्तकाकार रूप प्रकाशित हुआ। मार्च १९१० में भारत की ब्रिटिश सरकार ने पुस्तक को ज़ब्त कर लिया । गाँधी जी ने बहुत शीघ्र इसका अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किया। इसके ज़ब्त होने की कोई सूचना नहीं है। वस्तुतः यह आधुनिक सभ्यता की समीक्षा है, मास्टर नरेटिव के रूप में आधुनिक सभ्यता को स्वीकार करने पर प्रश्नचिह्न है। ब्रिटिश संसदीय गणतंत्र की कटु आलोचना है और अन्ततः हमारी आधुनिकता को स्वराज, स्वदेशी, सत्याग्रह तथा सर्वोदय की सहायता से रेखांकित करने का प्रयत्न है। आज की तीन ज्वलंत समस्याएँ हैं:

१. आधुनिक सभ्यता तथा उद्योग अनुप्राणित समाज से सम्बद्ध विकास की अवधारणा हमारे लिए कहाँ तक सार्थक है।

२. संसदीय गणतंत्र हमारे लिए कहाँ तक उपयुक्त है?

३. आधुनिकता की क्या पहचान है?

दरअसल आधुनिकता का पूरा प्रश्न बाकी दो समस्याओं से जुड़ा हुआ है।

सन् १९४७ के बाद उत्तर-उपनिवेशवादी युग में विकास के पश्चिमी दृष्टिकोण तथा आधुनिक प्रौद्योगिकी तथा पाश्चात्य आधुनिक अवधारणा की सहायता से पंडित जवाहर लाल नेहरू ने भारत के अर्थनैतिक विकास को संभव बनाने का प्रयत्न किया था। गुनर मिरदल जैसे पश्चिमी विचारकों का दृष्टिकोण यही था कि भारत जैसे पारम्परिक समाज जब तक अपनी

प्राचीन मूल्यव्यवस्था से मुक्त होकर आधुनिकीकरण की ओर आगे नहीं बढ़ेगा तब तक उसका विकास संभव नहीं यानी उपनिवेशवादी शासकों की आधुनिकीकरण और सम्यकरण की भूमिका के आश्रय से ही हमारे जैसे देश का विकास संभव है। दूसरे शब्दों में हमें अपने यथार्थ को भूलकर, अपनी आधुनिकता को पहचाने बिना दूसरे की आधुनिकता को अपने ऊपर ओढ़ लेना पड़ेगा । किन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के बाद इन पचास वर्षों में हम यह निश्चित समझ पाए हैं कि विदेश से उधार लेकर कोई परिवर्तन संभव नहीं और न ही आधुनिकता के क्षेत्र में प्रवेश संभव है। जब तक हम अपनी आधुनिकता को परिभाषित नहीं करते तब तक आधुनिकता को जो विकास का प्रतीक है, जो जीवन के यथार्थ से जुड़ा है उसको रूपायित करना संभव नहीं हो सकेगा।

आज इस उत्तर-आधुनिक युग में अपनी आधुनिकता को परिभाषित करने की आवश्यकता को हम और अधिक अनुभव कर रहे हैं। भूमण्डलीकरण के प्रभाव-स्वरूप जिस उपभोक्ता संस्कृति से हम प्रभावित हो रहे हैं वह एक ऐसी संस्कृति है जो पश्चिमी आधुनिक शैली को स्वीकारने को कहती है, जिसमें विविधता के लिए कोई स्थान नहीं है और इससे प्रभावित हम हीगल को सही मानने लग जाते हैं कि कल्चरल माइनारीटी के बहुसंख्यक समाज के साथ सम्मिलित हो जाने से अल्पसंख्यकों को फायदा पहुँचता है। जान स्टुअर्ट मिल ने भी इस प्रकार की बात कही है कि सामाजिक आत्म-सात्करण से अल्पसंख्यकों को फायदा है। परन्तु हम यह भूले बैठे हैं कि आवश्यकता आत्म-सात्करण की नहीं हैं वरन् सामुदायिक भावना का प्रसार करना है। हरेक वैविध्य को फलने फूलने देना है। समांगीकरण (homegenisation), सहयोजन (cooption) तथा विनियोजन (appropriation) हमारे अस्तित्व के लिए खतरनाक सिद्व हो सकता है। भूमण्डलीकरण के द्वारा यही किया जा रहा है और इससे जो खतरा पैदा हो रहा है उसका एहसास कराना निहायत जरूरी है। भारत की आत्मा को सही रूप से प्रतिष्ठित किए बिना हमारा विकास संभव नहीं।

पंडित जवाहर लाल नेहरू का कहना था कि राष्ट्र की आत्मा और विदेशी प्रभुत्वपूर्ण शक्ति के बीच के संघर्ष से आधुनिक भारत का निर्माण हुआ है। महात्मा गाँधी ने भी भारतीय आत्मा की बात कही थीः

''भारत के लिए यह खतरा है कि वह अपनी आत्मा को खो बैठे। उसे खोकर भारत जीवित नहीं रह सकता। इसीलिए भारत को अकर्मण्य और असहाय बन कर बैठे रहना नहीं चाहिए। मेरे लिए पश्चिम के उन्मादपूर्ण प्रवाह से बचना कठिन हो रहा है। भारत को शक्तिशाली बनना होगा जिससे कि अपने खातिर और दुनिया के लिए वह इसका प्रतिरोध कर सके।''

नेहरू भारतीय आत्मा का पश्चिमी ढंग से नवीकरण चाहते थे और गाँधी उसका फिर से आविष्कार करना चाहते थे। नेहरू का सपना था एक शहरी औद्योगिक भारत जिससे सार्वजनिक उपक्रम को महत्वपूर्ण स्थान मिलेगा। नेहरू का यह सपना सन् १९९० से टूटने लगा था। केन्द्रयुक्त आर्थिक योजनाओं का टूटना या हमारे फायदे या नुकसान जिस किसी के लिए धर्म का आम संस्कृति तथा राजनीति से जुडना नेहरूवियन धर्म निरपेक्षता, समाजवाद तथा गणतंत्र के लिए एक बहुत बड़ा धक्का था और ऐसी स्थिति में 'हिन्द स्वराज' में गाँधी का यह उत्तर-आधुनिक सपने को एक नया रूप मिलना शुरू हुआ है।

'हिन्द स्वराज' लिखते समय आधुनिकता और विकास के नाम पर जो विदेशी सभ्यता, विदेशी टेक्नोलॉजी, विदेशी संसदीय पद्धति के अनुकरण की कोशिश हो रही थी उसको गाँधी आधुनिक मानने के लिए तैयार नहीं थे। गाँधी जी का 'हिन्द स्वराज' भारत की आधुनिकता को

रेखांकित करने की प्रथम कोशिशों में से एक था। गाँधी जी की स्वदेशी और विदेशी के बीच कोई कशमकश पैदा करने की इच्छा नहीं थी। वे सिर्फ हमें सावधान कर रहे थे कि उपनिवेशवादी मानसिकता या मानसिक उपनिवेशीकरण हमारे लिए खतरनाक सिद्ध हो सकता है।

टैगोर ने भी उन दिनों कहा था कि वास्तविक आधुनिकता मन की स्वाधीनता है, आस्वाद की गुलामी नहीं (not slavery of taste); यह चिंतन और क्रिया की स्वाधीनता है, यूरोपीय स्कूल मास्टरों की अभिभावकता में जीना नहीं। सन् १७८४ में इमैनुअल कांट ने अपने एक छोटे से निबंध Enlightment में कहा था कि एनलाइटमेंट का अर्थ दूसरे के नियंत्रण से अपने को मुक्त करना है, आत्मनिर्भर बनना है और इस तरह इस मानसिक स्वाधीनता के द्वारा अपने को मुक्त करना है और अपने समसामयिक जीवन के बारे में स्वाधीन ढंग से सोचने के लिए रास्ता बनाना है। कांट प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने समसामयिक दुनिया की संरचना को अपनी दार्शनिक खोज का आधार बनाया था। मिशेल फको ने बाद में इस बात की ओर इशारा भी किया था। कांट ज्ञानोदय (enlightment) के संकट की ओर इशारा नहीं कर रहे थे, न ही ऐतिहासिक विकास या ऐतिहासिक परिणामों की ओर उनका इशारा था। कांट सिर्फ यह जता रहे थे कि किस प्रकार अतीत से वर्त्तमान भिन्न है और इस भिन्नता का आश्रय से कैसे ज्ञानोदय के अर्थ या आधुनिकता की परिभाषा को रूप दिया जा सकता है। कांट की दृष्टि कालवाचक रही है और टैगोर की दृष्टि मूल्यवाचक। टैगोर के अनुसार हृदय की स्वाधीनता ही सच्ची आधुनिकता है। कहते हैं कि आप अपने प्राच्य हृदय का प्रयोग कीजिए, आध्यात्मिक शक्ति, सरलता के प्रति आपका प्यार और सामाजिक उत्तर-दायित्व के प्रति सचेतन हो जाइए और तब पश्चिम के असंसारिक विकास की गाड़ी जो केवल विसंगतिपूर्ण आवाज़ करती दौड़ रही है उसके रास्ते से अलग नया रास्ता बना पायेंगे। और एक निबंध मैं टैगोर ने कहा था कि जब आप मानव की समस्याओं का संतोषजनक हल निकाल लेंगें और जीवित रहने की अपनी कला का विस्तार करेंगें तब अपनी वर्तमान स्थिति में इसका प्रयोग करने पर इसमें से एक नयी रचना पैदा होगी जो केवल अनुकरणात्मक नहीं होगी। ऐसी रचना को जनता की आत्मा अपने लिए स्वीकार करेगी और गर्व के साथ दुनिया के सामने मनुष्य के कल्याण के निमित्त हमारी श्रद्धांजलि के रूप में समर्पित करेगी।

एशियाई स्वायत्तता तथा व्यक्तित्व की रचनात्मक अभिव्यक्ति के आधार पर टर्म्स आफ डिसकोर्स को पुनः परिभाषित करने की टैगोर जी तथा गांधी जी की इस प्रचेष्टा में हमारी आधुनिकता को समझने का एक ताज़ा एजेंडा तैयार हो रहा था।

गाँधी जी के इन शब्दों को हमारे मन तथा आत्मा की स्वायत्तता की प्रारंभिक अभिव्यक्ति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है, खासतौर पर उस समय, उस परिवेश में जब पश्चिम के आधिपत्य (hegemony) पर प्रश्न उठाने का कोई अधिकार ही किसी को नहीं था। उन्होंने कहा थाः 'My resistance to Western civilization is really a resistance to its indiscriminate and thoughtless imitation based on the assumption that Asiatics are fit only to copy everything that comes from the West.'

वस्तुतः पाश्चात्य प्राच्यविदों का यही हिडेन एजेंडा था। उनका कहना था कि भारत का अतीत निश्चय ही बहुत गौरवपूर्ण है परन्तु उनका कोई वर्तमान नहीं। वर्तमान को बनाने के लिए उसे पश्चिम की ओर जाना पड़ेगा और धीरे-धीरे भारत ने इस अवधारणा को स्वीकार कर लिया कि पश्चिमीकरण ही आधुनिकीकरण है। सर विलियम जोन्स ने सन् १७८६ में कलकत्ते स्थित

एशियाटिक सोसायटी में अपने 'डिस्कोर्स' में यह घोषित किया था कि भारतीय इतिहास की तलाश करते हुए सुंदर पुराकाल तक जाने के लिए वे तैयार हैं ओर नीचे की ओर ११वीं शती तक ही वे अपने शोधकार्य को सीमित रखना चाहेंगे। जोन्स के बाद लगभग सभी पश्चिमी प्राच्यविदों ने इस तथा कथित ऐतिहासिक अंतर को मानते हुए संस्कृत की परम्परा को मध्ययुग से पहले तक सीमित रखते हुए मध्ययुग और आधुनिक परम्परा से अलग ही नहीं रखा वरन् बड़ी चालाकी से मध्ययुग के लिए Pre-British India पदनाम देकर उसे अंधकारमय सिद्ध करते हुए ब्रिटिश इंडिया के गौरव को प्रकट करने का प्रयत्न किया।

इस दासतापूर्ण बौद्धिक चिंतन के विरोध में गाँधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में अपनी आवाज और गैर-पश्चिमी समाज के लिए उपयोगी उपनिवेशवाद के आधुनिकीकरण और सभ्यताकरण (civilizing) की भूमिका पर प्रश्न उठाने तथा इस मिथक को तोड़ने में महत्वपूर्ण ग्रहण की। पी. सी. जोशी का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि गैर-पश्चिमी समाज तथा सभ्यता के बारे में पश्चिम की अभिधारणा (assumptions) तथा आधार वाक्यों (premises) को लेकर आलोचनात्मक जाँच, व्याख्या तथा मूल्यांकन की यह परम्परा गाँधी जी से ही शुरु हुई थी। गाँधी जी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने भविष्यदृष्टा ऋषि की तरह पश्चिमी सभ्यता में निहित अशुभ प्रवृत्तियों के खतरनाक संभाव्य शक्ति का पर्दाफाश किया था। दूसरे चिंतकों ने अपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई थी परन्तु किसी ने आधुनिकता के पश्चिमी मॉडल का विरोध नहीं किया था।

पश्चिमी परिभाषाओं के अनुसार प्रतिष्ठित नियमों, परम्पराओं तथा परिपाटियों से नाता तोड़ना आधुनिकता है और इस विश्व में मनुष्य के स्थान और कार्य को एक नयी दृष्टि से देखना है और कुछ स्थितियों में रूप तथा शैली को लेकर अभूतपूर्व प्रयोग करना है। भारत में आधुनिकता एक क्रिया व्यापार (phenomenon) या मूल्य के रूप में अतीत और भविष्य के संदर्भों से कटा नहीं है। वह अपने में पारंपरिक मूल्यों को और नवीनता को समेटे हुए हैं और नैरन्तर्य के आधार पर इसका स्वरूप स्पष्ट हो पाता है। इसको समझने के लिए भीमसेन जोशी या कुमार गंधर्व के उदाहरण दिए जा सकते हैं। ये गायक अपने गायन में चाहे कितनी भी नवीनता लाएँ इन्हें कभी भी आधुनिक जैज़ या रॉक गायकों की तरह माडर्न नहीं कहा जा सकता। मगर व्यावहारिक दृष्टि से भारतीय परिस्थिति में जो कुछ भी पश्चिमी है, आधुनिक है और पश्चिमीकरण आधुनिकीकरण है। इसमें कोई शक नहीं कि विचार, चिंतन, मनन, प्रणाली, प्रक्रिया का जो विस्तृत निकाय हमारे वर्त्तमान तथा हाल ही के समय से संबद्ध है उसकी उत्पत्ति पश्चिम में हुई मगर फिर भी हमारे आधुनिक बनने की प्रक्रिया में भीतर ही भीतर ऐसा कुछ घट रहा था कि पश्चिमी आधुनिकता को ग्रहण करने के बाद भी उसके मूल्य और फलाफल के संबंध में हम संशय में थे और लगातार अपनी आधुनिकता को परिभाषित करने की कोशिश में जुटे हुए थे।

राजनारायण बसु ने सन् १८७३ में 'सेकाल और एकाल' पुस्तिका लिखकर यह प्रमाणित किया था कि प्राचीन काल वर्तमान काल से अधिक आधुनिक था। अतीत काल की मूल्यवत्ता को महत्वपूर्ण मानते हुए और उसे आधुनिक करार देते हुए उन्होंने वर्तमान को ह्रास या पतन का काल कहा है। राजनारायण बसु कतिपय वस्तुगत अभिमतों की सहायता से इस निर्णय पर पहुँचते हैं। उनका कहना है कि पहले लोग शारीरिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ थे। आज मनुष्य की नैसर्गिक प्रकृति में परिवर्तन आ गया है। खाद्य के नाम पर कुखाद्य पर ज़ोर है। अब लोग धर्मभीरु नहीं है। दयाशील और सरल भी नहीं लगते हैं। समाजतंत्र का अधिकार हो गया है। चरित्र की दृष्टि से छोटापन आ गया है ।

टैगोर भी आधुनिकता को मूल्यरूप में स्वीकार करते हुए शाश्वता, स्थायित्व तथा आनन्द, जो कविता को अन्तर्मुखी बनाते हैं, तथा पारदर्शिता आदि को आधुनिकता की विशेषताएँ बताते हैं। यहाँ तक कहा जा सकता है कि आधुनिकता कालवाचक शब्द है और इसीलिए आज के विज्ञान तथा प्रौद्यागिकी पर आधारित औद्योगिक सभ्यता के आधार पर आधुनिकता के स्वरूप का उद्‌घाटन होता है। मगर हम सब जानते हैं कि विज्ञान तथा प्रौद्यागिकी पर आश्रित उद्योग-आधारित नाजी जर्मनी की चिंतनधारा तर्कविहीन, अवैज्ञानिक, बर्बरता-पूर्ण तथा संदेवन शून्य थी ठीक उसी प्रकार जैसे विज्ञान-पूर्व, प्रौद्यागिकी-पूर्व तथा पूर्व-औद्योगिक युग के कई समुदायों में देखा जा सकता है। इसीलिए समय के साथ जो घटनाएँ घटती हैं, क्रिया-व्यापार होता है उसके आधार पर आधुनिकता को परिभाषित नहीं किया जा सकता है। इसमें से एक महत्वपूर्ण अर्थ निकलता है कि विशेष अवस्था के अनुसार आधुनिकता के विशिष्ट रूपों का निर्धारण तथा युक्ति-तर्क-विचार-बुद्धि का प्रयोग कर आधुनिकता के कौन से प्रकरण हमारे लिए उपयुक्त हैं इसका निर्वाचन अथवा उद्‌भावन ही यथार्थ आधुनिकता है अर्थात् आधुनिकता का कोई सर्वग्राह्य या सामान्य संज्ञा नहीं तर्कबुद्धि के द्वारा हमारी विशेष आधुनिकता को समझना होगा ।

सन् १९०४ में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने 'स्वदेशी समाज' निबंध लिखा था और २४ वर्षों के बाद और एक निबंध में उसकी ताइद की थी। उनका कहना था कि राष्ट्र प्रधान देश में राष्ट्र तंत्र के भीतर देश का मर्मस्थान विशेष रूप से आबद्ध रहता है। समाज प्रधान देश का प्राण सर्वत्र व्याप्त रहता है। पाश्चात्य राज्यशासन में भारत को यहाँ आघात मिला है। गाँव-गाँव में उसका जो सामाजिक स्वराज परिव्याप्त था, राज्य शासन नें उस पर अधिकार कर लिया। विदेशी आधुनिकता ने हमारे मर्मस्थान पर आघात किया ।

स्वामी विवेकानन्द ने सन् १९०२ में कहा था कि अनुकरण किसी सभ्यता की पहचान नहीं है। मैं पुरानी अर्थोडक्सी के पक्ष में हूँ । उसमें नाना दुर्बलताएं हैं मगर फिर भी मैं उसमें विश्वास करता हूँ। जो इसमें विश्वास करता है वह अपने पैरों पर खड़े होने का सामर्थ्य रखता है। मैं आधुनिक यूरोपीय सभ्यता के पक्ष में नहीं हूँ। वस्तुतः पाश्चात्य सभ्यता की विवेकानन्द घोर आलोचना करते हैं। इस तरह की घोर आलोचना, इस तरह की चरम पोज़ीशन लेने की जरूरत क्यों हुई। गाँधी जी ने भी 'हिन्द स्वराज' में एक्सट्रीम पोज़ीशन लिया था। इस तरह का रूख कोई महान कवि या दिव्यदर्शी ही ले सकता है। कवि ब्लेक ने कहा था, All extremes open the gate of heaven सत्य उदार दृष्टिकोण से नहीं चरम दृष्टिकोण से ही स्पष्ट होता है ।

'हिन्द स्वराज' की प्रस्तावना में गाँधी जी ने तीन उद्देश्यों का उल्लेख किया हैः

१. उद्देश्य देश की सेवा करना है।
२. सत्य देश की खोज करना है।
३. उसके मुताबिक बरतना है।

आज पता चल रहा है कि 'हिन्द स्वराज' आधुनिक सभ्यता की पहली समीक्षा है। प्रत्येक परिवर्धन (development) की भविष्यधर्मी गुणावगुण परीक्षा है। आज परिवर्धन लगभग एक धर्म बन चुका है। गाँधी जी ने परिवर्धन के इस विचार की समीक्षा की है और उसके साथ ही आधुनिक विश्व प्रणाली की भी समीक्षा की है।

तिलक ने राजनैतिक जीवन की शुरुआत गीता का भाष्य लिखकर की थी। गाँधी जी ने राजनैतिक पुस्तक 'हिन्द स्वराज' लिख कर की। बाद में गीता पर भाष्य लिखा। अर्थ स्पष्ट हैः

पहले अपने यथार्थ की पहचान जरूरी है, स्वराज का रास्ता ढूंढना है। हम अपने ऊपर राज करें वही स्वराज्य है और वह स्वराज्य हमारी हथेली पर है। अपने मन का राज्य स्वराज है, उसकी कुँजी सत्याग्रह, आत्मबल है और उस बल को अपनाने की जरूरत है और बाद में गीता के स्वधर्म, निष्काम कर्म और आत्म सम्पर्ण के मॉडल की सहायता से उसे पुख्ता करना है।

एक्सट्रीम वियूज़स अर्थात् पश्चिमी सभ्यता का विरोध, यंत्रवाद का विरोध, रेल, पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति, अस्पताल, न्यायालय, न्यायदान पद्धति का विरोध या ब्रिटिश संसद को बाँझ और वेश्या कहने के पीछे अर्थात् इस एक्सट्रीम वियूज़स के पीछे उनके दो-तीन उद्देश्य थे। संसदीय पद्धति बाँझ क्यों इसका उत्तर आज एकदम स्पष्ट है। संसद ने अथवा संविधान ने अस्पृश्यता तथा दहेज प्रथा खत्म कर दी है परन्तु दोनों कुरीतियाँ समाज में पूरे तौर पर बरकरार हैं। दहेज के विरुद्ध जब तक जनमत तैयार नहीं होगा, कुछ नहीं किया जा सकेगा। उसी प्रकार अस्पृश्यता को दूर करने के लिए नयी संस्कृति की जरूरत है। कानून से अस्पृश्यता दूर नहीं की जा सकती। किसी भी मूलभूत परिवर्तन की जननी संसद नहीं सक्रिय सचेतन संबद्ध जनमत की भूमिका होती है। संसदीय व्यवस्था वेश्या क्यों? जनमत के आधार पर जो राजनैतिक दल सत्ताधारी बनता है, संसद उसका प्रभुत्व स्वीकार कर लेता है परन्तु यह विजय पूर्ण रूप से नैतिक ढंग से नहीं घटती है। इसके पीछे रहता है रुपये का खेल, झूठी प्रतिश्रुति और नाना प्रकार की दुर्नीति। मगर जनमत हमेशा इससे प्रभावित होता है ऐसी बात नहीं, फिर भी संसदीय गणतंत्र कुछ नियम बाँध देते हैं, मगर दुर्नीति को रोकना कठिन हो जाता है।

रेलवे की आलोचना कर उन्होंने विरोधियों को आकर्षणविहीन (deglamorize) कर दिया और साथ ही दूरदर्शिता का भी परिचय दिया। केन्द्र में रहने वाले पश्चिम प्रभावित मध्यवर्गी बुद्धिजीवी, जो राष्ट्रीय संग्राम के अग्रवर्ती थे, उनके स्थान पर बाह्य परिधि या हाशिये में रहने वाले किसानों का पक्ष लिया। इसके लिए राजनीति को गैर-बौद्धिक करना था, हालाँकि वे बौद्धिकता के विरोधी नहीं थे । बौद्धिकता-युक्त विदेशी आधुनिकता के विरोथी थे। स्वाधीनता के संघर्ष में किसान, हरिजन और स्त्रियों को आगे लाना चाहते थे, गैर-ब्राह्मणवाद (de-Brahmanization) के पक्ष में थे और हमारी सरलता, गरीबी और धीमेपन में सौन्दर्य को खोजना चाहते थे। लगता है कि यह रूढ़िवादिता है मगर औद्योगिकीकरण और विज्ञान के आधार पर परिवर्धन और सभ्य बनाने की विदेशी भूमिका, जो श्रेणीवाद और जातिवाद और शोषण को बढ़ावा देना था, का विरोध था और फोकहिन्दूइज़म का पक्ष लेना था, हिन्दुत्व के लोकपक्ष या सर्वोदय को उजागर करना था।

गाँधी जी को यह मालूम था कि विदेशी ज्ञान-विज्ञान के चकाचौंध के द्वारा उपनिवेशवादी क्षमता के विस्तार की जो आधुनिक प्रक्रिया उससे वैश्विक (global) आधुनिकता के हम मात्र ग्रहीता (receptor) ही बनेंगे, स्रष्टा बनने का अवसर कभी नहीं मिलेगा। इसीलिए गाँधी जी की कोशिश थी वैश्विक आधुनिकता के मायाजाल को हटा कर ऐसा स्थान ढूँढना जहाँ अपनी आधुनिकता के हम ही नायक बन सकें। याद कीजिए पाश्चात्य आधुनिकता को भारतवर्ष की पराधीनता के समर्थन में सबसे बड़े तर्क के रूप में प्रयोग लाया गया था। यह कहा गया कि भारतवासियों के उद्धार के लिए विदेशी शासन जरूरी है। हालाँकि इसी आधुनिकता ने हमें साम्राज्यवाद के विरूद्ध खड़े होने का साहस जुटाया और आधुनिकता के नाम पर क्षमता के प्रसार की अंग्रेजों की अभिलाषा का भंडाफोड़ किया। हमें याद रखना होगा कि वैश्विक आधुनिकता के प्रांगण में हम अछूत हैं, हमारे लिए वह फैंसी मार्केट है, वहाँ हम पहुँच नहीं सकते, इसीलिए किसी

भी प्रकार की आधुनिकता तर्क सिद्ध है और हमारे लिए मंगलमय जैसा सोच गलत है।

हाँ, परिवर्तन ज़रूरी है, वर्तमान परिवर्तन की अपेक्षा रखता है, उसका परिवर्तन करना कर्तव्य है। परिवर्तन की आकांक्षा हमारी परम्परा के केन्द्रीय तत्त्व हैं। इसको समझाने के लिए निहाररंजन राय ने दो पारिभाषिक तत्त्वों का उल्लेख किया हैः कुल तथा शील। कुल आनुवंशिकता है, उत्तराधिकार है, परम्परा है। शील मनुष्य का विकास है (making of man) उसका व्यक्तित्व तथा व्यवहार है तथा वह कुल से प्रभावित रहता है। शील अपने स्थान और काल में कुल के उन तत्त्वों को नकारता रहता है जो अपनी शक्ति खो बैठे हैं और अपनी तरफ से विचारों और क्रियाओं के नये प्रकारों को उसमें जोड़कर हमारी परम्परा की निरन्तरता को बरकरार रखते हुए वर्तमान को प्रखर तथा प्रभावशाली बनाता है और इस तरह परम्परा के साथ-साथ नवीनता को स्वीकारते हुए परम्परा को हमेशा गतिशील रखा गया है। गाँधी जी के स्वराज में यह अर्थवत्ता जुड़ी हुई है। स्वराज का अर्थ मात्र स्वाधीनता और स्व-राज्य नहीं है। भारतीय चिंतन धारा की सुरक्षा और सतत् प्रवाह है तथा यथार्थ को देखने, परखने तथा अनुभव करने का उपाय है। इसका अर्थ है आंतरिक ढंग से अपने को शक्तिशाली बनाना जिससे कि वर्तमान विकास की प्रक्रिया हो हम चुनौती दे सकें और विकास और आधुनिकता की अवधारणा को बदल सकें। इसके परिणाम स्वरूप भारत की पारम्परिक साकल्यवादी (holistic) दृष्टि का फिर से अनुसरण करना संभव हो सकेगा और प्रकृति और समाज के साथ मनुष्य जीवन के समंजस्य की पुनः स्थापना करते हुए नयी विचारधारा की छानबीन करना भी संभव हो पायेगा और आधुनिकता तथा विकास के अपने मॉडल तैयार करना सहज हो जायेगा। यह रवीन्द्र जी के द्वारा पूर्व और पश्चिम के सामंजस्य की बात नहीं है, श्री अरविन्द का सिलेकटिव मार्डनिज़्म भी नहीं है। यह पाश्चात्य आधुनिकता की सहायता से विविधतायुक्त भारतीय सासंकृतिक परम्परा का अन्तर्वेशन कर नयी संरचना की सृष्टि करने का अवसर देना है और इस तरह आज की तेज़ी से बदलती हुई दुनिया में हमारी आधुनिकता को परिभाषित करना है और जड़ें और पंख दोनों के महत्त्व को स्वीकारना है। गाँधी जी के शब्द इस संदर्भ में बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैंः

I do not want my house to be wallted in on all sides and may windows to be stuffed. I want the cultures of all lands to be blown about my house as free as possible. But I refuse to be blown off my feet by any.

'यंग इंडिया' में बाद में उन्होंने लिखा कि नयी संरचना भारतीय स्वदेशी ढंग की होगी जहाँ प्रत्येक संस्कृति को न्याय संगत स्थान प्राप्त है और वह अमेरीकी ढंग की नहीं जहाँ एक प्रधान संस्कृति बाकी सबको विनियोजित कर लेती है और जहाँ सामंजस्य नहीं वरन् जबरन निर्मित एक कृत्रिम एकता की सृष्टि उद्देश्य होता है। इसीलिए हमारी चुनौती केवल स्वदेशी नहीं स्वराज है और आधुनिकता को कोटियों का निर्माण है। गाँधी जी ने इस तरह जो विकल्प हमारे सामने रखा वह परम्परा बनाम पाश्चात्य आधुनिकता का नहीं वरन् दोनों की इकट्ठे स्वीकृति बनाम किसी एक की बाध्यतामूलक स्वीकृति।

हमारा भविष्य इसमें निहित है कि हम उन विशेषताओं या तत्त्वों का आविष्कार करें जिससे हम अपनी आधुनिकता को रेखांकित कर सकें। हमारी आधुनिकता के विशिष्ट स्वरूप को पहचानने के लिए यह जरूरी है कि हमारे भीतर अन्यत्र प्रतिष्ठित आधुनिकता को ठुकराने का साहस हो। राष्ट्रीय संग्राम के युग में उसकी जरूरत थी। गाँधी जी ने वह रास्ता दिखाया था। आज भूमंडलीकरण के युग में उस साहस को दिखाना फिर जरूरी हो गया है। भूमंडलीकरण

नव-उपनिवेशवाद है। इससे बचने का एक मात्र रास्ता है कि हम अपनी मानसिकता का गैर-उपनिवेशीकरण करें। 'हिन्द स्वराज' के द्वारा गाँधी जी का उद्देश्य था कि हम अपने को पहचाने तथा हम अपनी दुर्बलताओं को भी पहचान लें यानी अपने यथार्थ को पहचानना- यानी अपनी आधुनिकता को पहचानना और उसके लिए उनके द्वारा निर्मित मॉडल कुछ इस प्रकार थाः

पहले प्राचीन सभ्यता की स्वीकृति फिर स्वराज की बात। सभ्यता फर्ज़ अदा करने का आचरण है। फर्ज़ अदा करना नीति का पालन करना है। नीति का पालन मन और इन्द्रियों पर काबू पाना है, भोग पर नियंत्रण पाना है। काबू करने का अर्थ अपने को पहचानना, स्व की पहचान है।

सभ्यता के नियमों के बारे में गाँधी जी का कहना था कि हिंसा हिन्दुस्तान के दुखों का इलाज नहीं है और भारतीय संस्कृति का अनुसरण करते हुए आत्मरक्षा के लिए अहिंसा और सत्यागह का प्रयोग ही उचित है। अहिंसा हमारा आध्यात्मिक तत्त्व है उसे गाँधी जी ने सैनिक और आर्थिक शक्ति के विरोध में इस्तेमाल किया, जिसे दुर्बल तत्त्व माना गया था उसे उन्होंने सबल बना दिया। शांतिपूर्ण प्रतिरोध (सत्याग्रह) के द्वारा क्रियात्मक (active) स्थिति पैदा की गई। पीड़ित व्यक्ति के दुख दर्द के स्थान पर सत्याग्रही की तरह दुख दर्द स्वीकारते हुए उसे महिमान्वित बना दिया। भारतीय सभ्यता की विशेषता है कि वह व्यक्ति को भोग से दूर रखती है और इसीलिए आधुनिक सभ्यता का उससे मेल नहीं है। आधुनिक सभ्यता का लक्ष्य भौतिक उन्नति है और इसके लिए टेक्नोलाजी का उपयोग किया जा रहा है। टेक्नोलाजी पर्यावरण को नष्ट कर रही है तथा भोग और हिंसा को बढ़ावा दे रही है। पर्यावरण और हिंसा विश्व की आज दो बड़ी चुनौतियाँ हैं ।

इन चुनौतियों का सामना करने का एक ही उपाय है। पर्यावरण के साथ मनुष्य के एकमत होने के रास्ते को ढूँढ निकालना है। यही प्राचीन भारतीय रास्ता है। इसी को पर्यावरण प्रभावित नैतिकता कहा गया है। हिंसा मनुष्य शरीर का अनादर करना है। धार्मिक उग्रवाद तथा राजनैतिक विचारधारा यह समझती है कि धर्म या राजनीति के नाम पर हत्या करने का लाइसेंस उनके पास रहता है और फिर उपभोक्ता संस्कृति से जुड़ी सेक्स की भूख ने शरीर को अर्थहीन बना दिया है। शरीर में ईश्वर का निवास है। हमारे पुराने रूपक अंग-अंगी, देह-देही, पुर-पुरुष प्रसिद्ध हैं। ये रूपक पैटर्न्स ऑफ वायलेंस को दूर करने के उपाय थे। गाँधी जी धर्म को मूल दया मानते हुए सत्याग्रह के द्वारा दया, बल और आत्मबल के प्रसार की बात करते हैं और हिंसा को रोकने के लिए उसका प्रयोग करते हैं।

गाँधी जी आज के बुद्धिजीवियों की तरह विउपनिवेशीकरण (decolonization) तक अपने को सीमित नहीं रखते। विउपनिवेशीकरण का पूरा एजेंडा स्व एवं समाज से संबद्ध हैं, उसमें अन्य (other) के बारे में कुछ उल्लेख नहीं होता है। संस्कृति और समाज की स्व-परिभाषा बनाना तथा विदेशी शक्ति से मुक्ति पाना विउपनिवेशीकरण की परिभाषा रही है। गाँधी जी ने इस परिभाषा को बदल दिया। स्वराज में अन्य के लिए भी उन्होंने स्थान बनाया और इस तरह कालोनाइजर तथा कॉलोनाइज़्ड दोनों की स्वाधीनता को उन्होंने स्वीकृति दी। वस्तुतः हिन्द स्वराज एक वैकल्पिक स्थिति पैदा करता है। एक वैकल्पिक मूल्य व्यवस्था की रचना करता है। यह भारतीय आधुनिकता की सबसे बड़ी बात है। यह पाश्चात्य आधुनिकता की तरह एक को बहिष्कृत कर दूसरे की प्रतिष्ठा नहीं करता। यहाँ वैकल्पिक स्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं। पश्चिम शब्द केन्द्रित (logo centric) तथा ऐकान्तिक है। भारत प्रतीकात्मक तथा अन्तर्भावयुक्त है। भारत समयोजन के द्वारा अपना विकास करता है और अपने को बार-बार वर्णित करता है। पश्चिम प्रतिस्थापन के

द्वारा विकसित होता है। इसीलिए भारत में प्राचीन विचारों को भले ही नये विचार स्थान न दे मगर प्राचीन विचार खो नहीं जाते, नवीन के साथ सहवस्थान करते हैं। यहाँ एक का बहिष्कार कर अपनी आधुनिकता की रचना नहीं की जाती। यहाँ विकल्पों को स्वीकारा जाता है इसीलिए 'हिन्द स्वराज' स्व की स्वाधीनता की बात करता है, अपने को पहचानने की बात करता है, सिर्फ विकास की बात नहीं करता जिससे धन अधिक पैदा हो सके। ऐसी दुनिया या लोगों की बात करता है जिनकी सहायता से स्वराज मिल सके। आधुनिकता और परम्परा को जोड़ने की बात नहीं करते– अन्तर्वेशन के द्वारा आधुनिकता की नयी संरचना का निर्माण करते हैं। इसीलिए बहुत से समाज सुधारकों की तरह परम्परा, जातिवाद, ब्राह्मणवाद आदि का तिरस्कार करते हुए डरते नहीं। यही क्रिटिकल इन्साइडर का काम है और इसीलिए आधुनिकता से लिए गए उदारवादी तथा मानवीय संशोधनों को भी स्वीकारते हैं जिससे कि तेजी से बदलते हुई दुनिया में हम अपनी आधुनिकता को सही ढंग से परिभाषित कर सकें ।

इसीलिए चुनौती सिर्फ स्वदेशी और स्वराज की खोज नहीं जिससे कि आधुनिकता की कोटियों का निर्माण हो सके मगर विशेषताओं और सिद्धान्तों की खोज भी है जिससे हमारी आज की आधुनिकता को सही रूप से परिभाषित कर सकें। उपनिवेशीकृत समाज में एक ओर शोषकीय तथा प्रतिक्रियावादी तत्त्व पैदा हो जाते हैं या संस्कृति को जो हिस्सा बचा रह जाता हा उसको पकड़े रखा जाता है। इस तरह का समाज धर्म, स्वदेशी, परम्परा की बात प्रतिक्रियात्मक ढंग से करते हैं। गाँधी जी की तरह धर्म के भीतर जो धर्म है उसकी बात नहीं करते या फिर उपनिवेशी स्वामी की प्रतिमूर्ति (mirror image) बन जाते हैं परिणामतः छाया हृदय (shadow mind) पैदा हो जाते हैं अनुकरण ही जिनके लिए सब कुछ होता है। हिन्द स्वराज ने गहन प्रश्नों के द्वारा आंतरिक शत्रुओं का पता दिया, उसके आधार वाक्यों को उघाड़ा, उसकी सांकेतिक भाषा को डी-कोड दिया।

भारतीय संस्कृति तथा चिंतन की बड़ी बात विविधता है। असहमतियों को कबूलते हुए एकता का प्रसार है। यह संस्कृति एक ऐसे समाज की बात करती है जो पिरामिड नहीं; जो ऊँचाई के स्थान पर लगातार चौड़ाई में प्रसारित होने वाले सागरीय वृत्तों की तरह फैला हुआ समाज है। ऐसा समाज भारत का ग्राम समाज है। इसीलिए गाँधी जी गाँव के समाज को, स्वदेशी को प्रमुखता देते हैं और इसके लिए क्षमता के विकेन्द्रीकरण का पक्ष लेते हैं। राजधानी क्रमशः समग्र समाज को ग्रस रही है। इसीलिए राज्य सरकार नहीं, ग्राम समाज को ही गाँधी जी ने क्षमता की भित्ति के रूप में स्वीकार किया है। मगर आज गाँव तीन तरह के बोझों से दबा हुआ हैः

१. सरकारी शासन तन्त्र का बोझ.
२. व्यावसायिक प्रतिष्ठानों का बोझ तथा
३. राजनैतिक दलों की राजनीति का बोझ

इनमें से पहले दो दबावों से गाँव पहले से परिचित हैं। राजनैतिक दलों की राजनीति अभी की बात है। दलीय राजनीति का एक अपना आदर्शगत वक्तव्य होता है। क्षमता की लड़ाई इस आदर्श के नाम पर चलती है। क्षमता के लिए नीति विसर्जित होती है तथा दलों की स्वार्थ रक्षा के लिए अपराधीकरण का प्रसार होता है। यह लड़ाई राजधानी के लिए होती है मगर इसके लिए गाँव पर कर्त्तत्व ज़रूरी है और परिणामतः गाँव के समाज को धक्का लगता है ।

ग्रामीण समाज अभ्यन्तर में एक आत्मीय समाज को दर्शाता रहता है और वह निर्दलीय

लोकनीति से मेल खाती है। बहुदलीय व्यवस्था नहीं, एकदलीय राजनीति नहीं, निर्दलीय लोकनीति के साथ गाँधी जी के मतादर्श का मेल है। यहाँ गाँधी जी संसदीय गणतंत्र का अतिक्रमण कर जाते हैं। यही गाँधी मार्ग है। आज के राजनेता कहेंगे, असंभव, यह असंभव है। गाँधी जी कहेंगे, इसके बिना समाज की मुक्ति संभव नहीं। दरिद्रता, अशिक्षा, छोटेपन के बावजूद रवीन्द्र जी और गाँधी जी ने ग्राम में ही भारतीय आदर्श-समाज के मूल सूत्रों को प्रत्यक्ष किया था। टैगोर का कहना है कि इस देश में राष्ट्रनीति और समाजनीति में हमेशा फासला रहा है। ग्रामीण समाज के अभ्यन्तर में एक आत्मीय समाज का आदर्श है। नाना अविचार, कुसंस्कार और अशिक्षा के बावजूद यहाँ ग्राम और समाज का अपना आदर्श है। मनुष्य के साथ मनुष्य का आत्मीय संबंध-स्थापन चिरकाल भारत वर्ष की सर्व प्रधान चेष्टा थी। हम जिस किसी व्यक्ति के संपर्क में आने से उसके साथ एक संबंध बना बैठते हैं। इसके अच्छे बुरे दोनों प्रकार के परिणाम संभव है, मगर यही इस देश की, उससे बड़ी प्राच्य परम्परा है। ग्राम समाज = आत्मीय समाज = प्रतिवेशी समाज और इसमें समवाय यानी सर्वोदय की भावना अनुस्यूत है। इसकी तुलना में राष्ट्र एक हृदयहीन यंत्र है। गाँधी जी कहते थे व्यक्ति के पास हृदय होता है मगर राष्ट्र हृदयहीन मशीन की तरह है। आजकल नगरों में राष्ट्रनीति के साथ वणिक शक्ति आ मिली है। रवीन्द्र का कहना है कि नगर देश की शक्ति का क्षेत्र है, ग्राम प्राण का क्षेत्र है। इस गाँव को केन्द्र में लाने के लिए ही रवीन्द्र और गाँधी जी ने स्वदेशी का पक्ष बना लिया था। स्वदेशी केवल प्रत्यावर्तन नहीं है, एक स्थायी उपाय ढूंढना है और इस तरह गाँव को स्वनिर्भर बनाना है और शहर के शोषण से गाँव को मुक्त रखना है। इसके लिए रास्ता समवाय का है और यही सत्य का रास्ता है। गाँधी जी के लिए यह सत्य तपस्या द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और रवीन्द्र का कहना था कि सत्य आनंद द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। समवाय नीति मनुष्यत्व की मूल नीति है, मनुष्य के सहयोग से ही मनुष्य मनुष्य है। गाँधी जी रवीन्द्र यंत्र के विरोधी नहीं थे, यांत्रिकता के विरोधी थे। यंत्र ने भोग को बढ़ाया है, भोग स्थायी तृप्ति नहीं दे सकता, संयम के द्वारा ही जीवन में तृप्ति संभव है। भोग की दृष्टि में सभी उपकरण हैं और ऐसी स्थिति में प्यार भी उपकरण बन जाता है। रवीन्द्र नाथ भोग की वासना को सौन्दर्य बोध के द्वारा नियंत्रित करना चाहते थे, गाँधी जी नैतिकता के द्वारा और उसका उत्स प्रेम की शक्ति में था। उनका कहना थाः

The fact that there are so many men still alive in the World shows that it is based on the force of truth of love.

गाँधी जी भारत के यथार्थ को समझने का, उसके विकास का यही आधार माना था ।

हमारी आधुनिकता परम्परा तथा पाश्चात्य आधुनिकता को जोड़कर नहीं, उनके अन्तर्वेधन (interpenetration) के द्वारा एक नई संरचना की सृष्टि की सहायता से विकसित हुई है। दूसरे के प्रभुत्व (dominance) तथा स्थानापन्नता से बचने के लिए आज गाँधी जी की फिर जरूरत है जो हमें हमेशा पश्चिम की ओर जाने से सचेत करते रहेंगे, जो हमें विदेश को अपने ढंग से, अपनी शर्तों (terms) पर स्वीकार करने के लिए रास्ता दिखाते रहेंगे, हमें अपने ढंग से परिभाषित करने में सहायता करेंगे। श्री अरविन्द ने चयनात्मक आत्मसात्करण (selective assimilation) की बात की है। आज विदेशी प्रभाव से बचना मुश्किल है मगर नकल नहीं, अपनी शर्तों पर चयनात्मक आत्मसात्करण करना है।

गाँधी जी ने आध्यात्मिक नैतिकता की सहायता से हमारी अर्थनैतिक तथा सैनिक कमजोरी को शक्ति में बदल दिया। अहिंसा को हमारी सबसे बड़ी शक्ति बना दिया। सत्याग्रह की सहायता से

शोषितों की तरह नहीं, विद्रोही की तरह जीना सिखाया और इस तरह सत्याग्रह को अस्त्र में बदल दिया। सहनशीलता (passiveness) को सक्रियता में बदलने का अभूतपूर्व कार्य किया। शक्तिहीन शक्तिशाली हो गया। पाश्चात्य आधुनिकता का विरोध कर हमें अपने यथार्थ को पहचानने का रास्ता दिखाया। ग्राम को विकास के केन्द्र में लाकर वैकल्पिक टेक्नोलाजी, स्वदेशी का प्रसार तथा सर्वोदय को महत्त्व देते हुए लोकहिन्दुत्व (Folk Hinduism) का पक्ष लिया और भारतीयों को सशक्तिकरण का मार्ग दिखाते हुए आधुनिकता की व्याख्या की ।

गाँधी जी ने एक और क्रिटिकल इन्साइडर की तरह हमारी परम्परा में से उन तत्त्वों का आविष्कार कर प्रयोग किया जिससे समाज का प्रगतिशील रूप प्रकट हो सके और समाज में फैली हुई कुरीतियों को दूर किया जा सके। दूसरी ओर क्रिएटिव डेस्ट्रक्शन की सहायता ली जिसका अर्थ केवल आक्रमण या कुरीतियों का ध्वंस नहीं वरन् चिंतन के धरातल पर रूपान्तरण, अनुकूलन (adaptation) तथा पुनर्निमाण की सहायता से नयी अन्तर्दृष्टि का प्रसार करना है। दूसरे शब्दों में परम्परा में आंतरिक परिवर्तन करते हुए नये बोध (perception) के प्रसार के द्वारा गाँधी जी ने हमारी आधुनिकता को समझा और स्वराज, स्वदेशी, सत्याग्रह और सर्वोदय की सहायता से उसको रेखांकित किया।

'हिन्द स्वराज : नवसभ्यता विमर्श'

वीरेन्द्र कुमार बरनवाल

तीसरी दुनिया के देश पश्चिम की सर्वशक्तिमान बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बेशर्म दोहन और शोषण के अभयारण्य साबित हो रहे हैं। भ्रष्ट राजसत्ता और नौकरशाही से मिलकर ये कम्पनियाँ किसी भी दायित्वबोध से मुक्त अपने स्वार्थ का खुला खेल निर्द्वन्द्वखेल रही हैं। उनके द्वारा बेचे गए कपास के नाकामयाब बीजों की परिणति महाराष्ट्र, कर्नाटक और आन्ध्र प्रदेश के हताश किसानों की आत्महत्याओं में हुई। पर उनसे किसानों के नुकसान की भरपाई करने के लिए किसी ने नहीं कहा। देश के एक और पिछड़े राज्य में एक विश्वप्रसिद्ध अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनी ने मक्के के वैज्ञानिक पद्धति से बहुप्रचारित विकसित बीज कई गुना अधिक पैदावार का सब्ज-बाग दिखाकर सरकार की सहमति से किसानों को मुँहमाँगी कीमत पर बेचे। इन्हें हजारों एकड़ जमीन में बड़े अरमान के साथ बोया गया। फसल तो खूब हुई। पर एक भी बाली में दाने नहीं आए। हाहाकार मचने पर कुछ एन.जी.ओ. और गाँधीवादी कार्यकर्त्ता सक्रिय हुए।

कोई भी अखबार और टी.वी. चैनल उक्त भयावह धोखाधड़ी को प्रकाशित-प्रसारित करने को तैयार नहीं हुआ। मामला जब तूल पकड़ने लगा तो मुँह बन्द करने के लिए बड़ी मुश्किल से वह कम्पनी दस हजार रुपए प्रति एकड़ की क्षतिपूर्ति के लिए तैयार हुई। स्थानीय वैज्ञानिकों ने पूरी फसल को इस कदर विषाक्त पाया कि उसे जानवरों तक को खिलाना असम्भव था। अतः उसे जलाना श्रेयस्कर समझा गया। सरकार ने किसानों के भयावह नुकसान की समुचित भरपाई के लिए सम्बन्धित कम्पनी पर कोई दबाव नहीं डाला। यह सिर्फ एक बानगी है। अक्सर ऐसे अनिष्टकारी खेल तीसरी दुनिया के अभिशप्त देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ वहाँ की भ्रष्ट सरकारों से मिलकर खेल रही हैं। एक तो धीरे-धीरे उनके विरुद्ध सामूहिक प्रतिरोध की क्षमता और इच्छा-शक्ति क्षीण होती जा रही है, दूसरे यदि किसी ने व्यक्तिगत या संगठित विरोध का साहस दिखाया तो उससे निपटने के क्रूर कौशल से ये कम्पनियाँ लैस हैं।

बीसवीं सदी के अन्तिम दशक में नाइजीरिया की सैनिक तानाशाही द्वारा वहाँ के मानव अधिकार और पर्यावरण-कर्मी केन सारो वीवा (१९४१-१९९५) और उनके आठ सहयोगियों को न्याय का नाटक कर फाँसी दे दी गई थी। इसके पीछे वहाँ कार्यरत एक बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनी रॉयल डचशेल और उसके नाइजीरिया स्थित उच्चाधिकारी ब्रॉयन ऐंडरसन की साजिश जगजाहिर थी। इस लोमहर्षक घटना की स्मृति संवेदनशील मनों में अभी धुँधली नहीं पड़ी होगी। नाइजीरिया के वर्तमान रीवर्स स्टेट (नाइज़र डेल्टा) में ओगोनी नाम की एक अल्पसंख्यक जन-जाति सदियों से अपने जल-जंगल-जमीन में रची-बसी रहती आई है।

सन् १९५० से जब नाइजीरिया ब्रिटिश उपनिवेश था, उस क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियाँ कच्चा तेल निकालने के धन्धे में संलग्न रही हैं। तभी से पेट्रोलियम का कचरा वहाँ की नदियों और जंगलों में निहायत लापरवाही से फेंका जाता रहा है। इससे उस क्षेत्र का पूरा पर्यावरण भयावह रूप से दूषित और विषाक्त होता गया। इसके प्रतिरोध के लिए ओगोनी जाति के संवेदनशील पर्यावरण और मानव अधिकार-कर्मियों का एक सदाशय किन्तु जुझारू संगठन आगे आया। एक समृद्ध ओगोनी मुखिया जिम वीवा की सन्तान केन सारो वीवा ने अंग्रेजी साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद कुछ वर्षों तक विभिन्न सरकारी उच्च पदों पर काम किया। शीघ्र ही सरकारी नौकरी से मुक्त केन साहित्य, पत्रकारिता और टेलीविजन की दुनिया में रम गए। साथ ही वह ओगोनी समुदाय के मानव-अधिकार और पर्यावरण रक्षा के अहिंसक आन्दोलन के प्रवक्ता भी बना दिए गए।

जनवरी सन् १९९३ में केन के नेतृत्व में तीन लाख से भी अधिक ओगोनी समुदाय के आबालवृद्ध स्त्री-पुरुषों ने एक विराट शान्तिपूर्ण प्रतिरोध-यात्रा का आयोजन किया। इसमें भाग लेनेवालों की संख्या विशेष उल्लेखनीय इसलिए है कि क्षेत्र के समूचे ओगोनी समाज की जनसंख्या छह लाख के आस-पास थी। इस विराट प्रतिरोध यात्रा ने नाइजर डेल्टा के पर्यावरण के लगातार भयावह होते जा रहे क्षरण से पैदा दुर्दशा की ओर अन्तर्राष्ट्रीय ध्यान आकर्षित किया। पर्यावरण और वंचित वर्गों के मानव अधिकारों की रक्षा के प्रति उनके गहरे समर्पण और अद्‌भुत जन-नेतृत्व क्षमता से प्रभावित हो यू.एन.पी.ओ. (अनरिप्रेजेंटेड नेशन्स एंड पीपुल्स अर्गनाइजेशन-प्रतिनिधित्व वंचित राष्ट्रों और समुदायों के संगठन) ने सन् १९९३ के प्रारम्भ में उन्हें अपना उपाध्यक्ष चुन लिया। केन नाइजीरिया की सरकार और बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियों के बीच दुरभिसन्धि के मुखर आलोचक रहे। केन के नेतृत्व में चल रहा आन्दोलन पूर्णतः शान्तिपूर्ण और अहिंसक था। एक हद तक वह गाँधी के सत्याग्रह के साँचे में ढला था। केन की सक्रियता और लोकप्रियता से विचलित तेलकम्पनियों की शह पर नाइजीरिया की सैनिक तानाशाही ने उन्हें बिना कारण बताए सन् १९९२ और ९३ में कई-कई महीनों के लिए जेल में बन्द रखा।

केन एक अच्छे कथाकार और मीडियाकर्मी भी थे। उनके बियाफ्रा के गृह-युद्ध पर आधारित उपन्यास, 'सोजोब्वॉय-ए-नॉवेल इन रॉटेन इंगलिश', कहानी संग्रह 'फॉरेस्ट ऑफ लावर्स' और गृह-युद्धकालीन डायरी 'ऑन ए डार्कलिंग प्लेन' काफी चर्चित रहे। सन् १९८६ में प्रकाशित 'फारेस्ट ऑफ लावर्स' में संकलित कहानी 'नाइट राइड' का निम्न अंश कितना विचलनकारी है-

''एक बुढ़िया भटकते हुए पहुँची और घबड़ाहट के साथ कहने लगी, 'मेरे लाल, इस सुबह वह आए और मेरा खेत-मेरा इकलौता खेत उन्होंने समूचा खोदकर रख दिया। उन्होंने मेरे भौंहों की मेहनत, मेरे महीनों के इन्तजार का फल बेरहमी से काटकर डाल दिया। वो कहते हैं कि मुआवजा देंगे। क्या वो मेरी मेहनत का मुआवजा दे सकते हैं?जो खुशियाँ मुझे अपनी सब्जियों की

फसल को अँखुवाते हुए देखने से मिलती है, जो मेरे बुढ़ापे के लिए ईश्वर की नेमत है, क्या वो उसकी भरपाई कर पाएँगे?हाय! बेटा मैं क्या करूँ?मैं क्या जवाब दूँ उसे?मैं इसे थोड़ा बाद में देखूँगा, उसने धीरे-से कहा।

हुँः, बाद में देखूँगा, झूठ बोलने के कारण उसे खुद से नफरत होने लगी। उसने तेल-जिसे काला सोना कहते हैं, उगलने वाली धरती को बुरी तरह कोसा। उसने उन देवताओं को भी कोसा जो तेल के कुओं को सुखा नहीं पा रहे हैं। इसका क्या मतलब है कि लाखों पीपे तेल रोज उसकी जमीन से खोदकर निकाले जाएँ और उन्हें बाहर भेज दिया जाए जबकि यह बेचारी बूढ़ी माँ हताशा के आँसू बहाती रहे?बाद में वह क्या देख पाएगा?क्या वह उसकी जमीन की एवज में ज़मीन दे पाएगा?क्या कानून बनाने वाले कानून को कुछ इस तरह बदलेंगे कि इन अभागे दुखियारों की जिन्दगी में, जिन्हें तेल की खोज ने जानवरों से भी बदतर जिन्दगी बिताने के लिए मजबूर कर दिया है, खुशी की हल्की-सी भी झलक पहुँच पाएगी?दरअसल तेल की रॉयल्टी तो उन्हें मिलनी चाहिए जिनकी जमींनें और फसलें बरबाद कर दी गई हैं। पर वकील तो कम्पनियों के हाथ बिके हैं और सरकारी लोग वकीलों और कम्पनियों के हाथ। तो फिर, वह बाद में क्या देख पाएगा?''

केन की एक संवेदनशील कहानी के इस मर्मवेधी उद्धरण से यह स्पष्ट है कि वह ओगोनी समाज की दारुण स्थिति के मूकदर्शक बनकर नहीं रह सकते थे। उन्होंने अपने सक्रिय, कर्मठ और प्रतिबद्ध सहयोगियों के साथ स्वयं को तन-मन-धन से बहुराष्ट्रीय तेल कम्पनियों के विरुद्ध संघर्ष में झोंक दिया। उनके नेतृत्व में चले व्यापक जन-आन्दोलन ने तेल कम्पनियों के साथ नाइजीरिया के भ्रष्ट और क्रूर सैनिक तानाशाह जनरल सानी अबाचा और उनके गुर्गों को भी जनता के कटघरे में खड़ा कर दिया। फलस्वरूप तेल कम्पनियों को सन् १९९३ में नाइजर डेल्टा से अपना बोरिया-बिस्तर समेटना पड़ा। यह पर्यावरण की लड़ाई की सम्भवतः पहली जीत थी। पर इस जीत की कीमत केन और उनके आठ प्रतिबद्ध साथियों को अपनी जान से चुकानी पड़ी।

केन के नेतृत्व में चला पर्यावरण-रक्षा का जन-आन्दोलन पूरी तरह शान्त और अहिंसक था। पर गाँधी के साँचे में ढले इस आन्दोलन के दौरान उनसे जुड़े कुछ उग्रवादी युवकों ने भावतिरेक में दुर्भाग्यवश चार ओगोनी मुखियाओं की नृशंस हत्या कर दी। ये मुखिया सैनिक तानाशाही और तेल कम्पनियों के गठजोड़ के पक्ष में और आन्दोलन के विरुद्ध सक्रिय थे। ये हत्याएँ कुछ वैसी ही थीं जैसी कि सन् १९२२ में हिन्दुस्तान में गाँधी के नेतृत्व में चले असहयोग आन्दोलन के दौरान चौरीचौरा में घटित हुई थी। इसके फलस्वरूप गाँधी ने आन्दोलन वापस ले लिया था और उन्हें पाँचवीं बार दो साल के लिए जेल की सजा दी गई थी। चार ओगोनी मुखियाओं की इन हत्याओं की जिम्मेदारी सैनिक शासन ने बिना किसी निष्पक्ष जाँच के केन और उनके आठ सक्रिय साथियों के सिर पर मढ़ दिया था।

अपने बेशर्म व्यावसायिक हितों को केन के जन-आन्दोलन से पहुँचे आघात का बदला लेने का और इस तरह के प्रतिरोधियों को अच्छा सबक सिखाने का सुनहरा मौका बिन माँगे तेल कम्पनियों को मिल गया। सैनिक तानाशाही के साथ साजिश रच इन कम्पनियों ने केन और उनके साथियों के खिलाफ़ मोटी रिश्वतों के बल पर झूठे गवाहों की एक फौज खड़ी कर दी। जेल की अमानुषिक यातना झेलते इन आरोपियों के विरुद्ध न्यायिक सुनवाई का एक नाटक कुछ दिनों के लिए चला। पैसे के बल पर जुटाई गई भीड़ इन निर्दोष पर्यावरण-कर्मी आरोपियों के वकीलों के साथ लगातार अपमानजनक व्यवहार करती रही। वकीलों को लग गया था कि न्यायिक प्रक्रिया

एक अत्यन्त उपहासास्पद दिखावा मात्र थी। फैसला पहले ही लिया जा चुका था। नतीजतन उन्होंने अपने को उससे अलग कर लिया। सेना के न्यायिक अधिकरण के सामने केन और उनके साथियों ने अपने बचाव स्वयं ही किए। पैसे के बल पर खरीदे गवाहों में कुछ की आत्मा विद्रोह कर उठी। उन्होंने भारी जोखिम उठाकर अधिकरण के सामने अपनी झूठी गवाहियाँ वापस लेकर सच्चाई कबूलने की साहसिक पेशकश की। पर उन्हें इसकी अनुमति नहीं मिली। अन्ततः केन और उनके आठ साथियों के विरुद्ध पहले से तय मृत्युदंड का फैसला सुना दिया गया।

फैसला अप्रत्याशित नहीं था। पर सदाशय लोगों को विश्वास था कि सैनिक तानाशाह सानी अबाचा ने यह फैसला भावी प्रतिरोधियों को डराने की नीयत से कराया था और अपील में उसे आजीवन कारावास में बदल दिया जाएगा। प्रो. वोले शोयिंका ने नाइजीरिया के तानाशाही दौर के अपने गहरे चिन्तनपरक संस्मरणों की कुछ ही समय पहले छपी पुस्तक- 'यू मस्ट सेट फोर्थ एट डॉन' ('तुम्हें निकल लेना होगा भोर के वक्त') में एक मार्मिक अध्याय केन सारो बीवा पर लिखा है। इसे उन्होंने 'इकोवारियर' (पर्यावरण-योद्धा) शीर्षक दिया है। गहरी संवेदना से लिखे इस अध्याय में शोयिंका बताते हैं कि उन्हें समय-समय पर नाइजीरिया समेत विभिन्न अश्वेत अफ्रीकी देशों की सत्ता पर काबिज तानाशाहों के असली चरित्र की बहुत अच्छी समझ है। वह स्वयं भी कई बार उसके शिकार बने थे और जेल की लम्बी यातनाएँ भुगतने को विवश किए गए थे। एकाधिक बार वह भाग्यवश अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के फलस्वरूप मौत के मुँह से निकल पाए थे। अतः उन्होंने कहा है कि उन्हें पूरा विश्वास था कि जनरल अबाचा केन और साथियों को कभी भी बख्शेंगे नहीं।

फैसले के तुरन्त बाद न्यूजीलैंड की राजधानी ऑकलैंड में राष्ट्रमंडल देशों के प्रमुखों का वार्षिक अधिवेशन था। प्रो. शोयिंका और केन के बेटे-केन जूनियर किसी तरह वहाँ पहुँचने में कामयाब रहे। फाँसी की सजा के खिलाफ़ अभी अपील की गुंजाइश बची थी। आशंकित शोयिंका और केन जूनियर ने आकलैंड में एकत्रित राष्ट्रप्रमुखों से वहाँ पहुँचे जनरल अबाचा पर फाँसी की सजा के खिलाफ़ दबाव बनाने का अनवरत आग्रह किया। सम्मेलन के लिए रवाना होने के पहले दक्षिण अफ्रीका के राष्ट्रपति सन्त-राजनेता नेल्सन मंडेला को अबाचा ने टेलीफोन पर फैसले पर अमल न करने का आश्वासन तक दे दिया था। पर शोयिंका और केन जूनियर का माथा एकाएक ठनका जब उन्होंने देखा कि रॉयल डच शेल के कर्मचारी कम्पनी की ओर से साइक्लोस्टाइल किए गए एक बयान की प्रतिलिपियाँ आकलैंड आए राष्ट्रप्रमुखों और राजनयिकों के बीच बाँट रहे थे जिसमें सफाई दी गई थी कि ओगोनी समुदाय के नौ सदस्यों को दी गई फाँसी की सजा के पीछे उनका कोई हाथ नहीं था। वे लोग तो उन्हें राहत दिलाने की जी तोड़ कोशिशें कर रहे थे। पर समुदाय के आक्रामक प्रतिरोधियों से चिढ़कर सैनिक शासन का रुख सख्त होता जा रहा था। इससे उनके (तेल कम्पनी) के प्रयासों पर पानी फिरता जा रहा था। शोयिंका को लगा कि मानो प्रभु ईसा को सूली के सुपुर्द करने वाले इस घोर पाप की जिम्मेदारी से हाथ धोने के प्रयास कर रहे हों। उन्हें आभास हो गया था कि दारुण ट्रेजेडी की पटकथा का आखिरी अनिष्ट पन्ना लिखा जा चुका था।

आशंकित शोयिंका राष्ट्रप्रमुखों के सम्मेलन की समाप्ति के दूसरे दिन टोकियो में आयोजित विश्व भर के नोबेल पुरस्कार विजेताओं के सम्मेलन में भाग लेने पहुँचे ही थे कि पूरी दुनिया में आग की तरह फैली खबर उन्हें भी मिल गई थी। केन समेत नौ के नौ अहिंसक ओगोनी प्रतिरोधियों को अबाचा ने फाँसी दे दी थी। समूचे सभ्य संसार की अन्तर्रात्मा हिल उठी थी। पर अब निन्दा, शोक प्रस्तावों, बहिष्कार और अन्तर्राष्ट्रीय तथा विश्व-संगठनों से निष्कासन के

अलावा और क्या होना था। ठगे गए गहरे आहत नेल्सन मंडेला ने कहा था, ''जनरल सानी अबाचा ज्वालामुखी पर बैठे हैं और मैं उनके नीचे उसका विस्फोट सुनिश्चित करने जा रहा हूँ।''

केन को दी गई फाँसी क्रूरता की अन्यतम मिसाल थी। उन्हें चार बार फन्दे से लटकाकर उतार लिया गया। एक-एक कर उनके आठ साथियों को दी गई फाँसी की नृशंस प्रक्रिया उन्हें देखने के लिए विवश किया गया। नर-पिशाच अबाचा के लिए पूरी बारीकी के साथ समूची प्रक्रिया की वीडियो रिकार्डिंग की गई। उसे फुरसत से अपने साथियों के साथ देखना अबाचा का प्रिय शगल था। एक बार इस तरह के पैशाचिक प्रदर्शन के दौरान भयावह दृश्यों की असह्यता के कारण एक युवा संवेदनशील सैनिक सहयोगी के बेहोश हो जाने पर अबाचा ने विद्रूप व्यंग्य के साथ कहा था, ''जरा इसे देखो, यह खुद को फौजी समझता है।'' अन्ततः फाँसी का फन्दा कसे जाने के पहले, शोयिंका के अनुसार, केन ने कहा था, ''प्रभो! मेरी आत्मा को स्वीकार करो। पर संघर्ष जारी रहे।'' केन और उनके साथी पर्यावरण की पवित्र वेदी पर बलि चढ़े सम्भवतः पहले शहीद थे।

केन समेत इन नौ हुतात्माओं के प्रति गहरे ऋण-बोध से व्यथित कवि हृदय शोयिंका ने एक सर्वथा नए शिल्प में एक लम्बी मार्मिक शोक-कविता लिखी थी। शोयिंका को सन् १९८६ में साहित्य के नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया गया था। उनके बाद निर्वासित रूसी कवि जोसेफ ब्रॉद्स्की (सन् १९४०-१९९६) इस पुरस्कार से समादृत हुए थे। लगभग ५६ साल की आयु में २८.१.१९९६ को हृदयघात से उनका देहान्त हुआ था। अपने मित्र कवि ब्रॉद्स्की को सन्देशवाहक बनाकर उन्होंने स्वर्गस्थ केन को सम्बोधित कविता- 'केन सारो-बीवा के लिए जोसेफ ब्रॉद्स्की को पुकारते हुए' (कालिंग जोसेफ ब्रॉदस्की फार केन सारोवीवा) रची थी। इंग्लैंड, अमेरिका और नाइजीरिया में कई बार उन्होंने काव्य-प्रेमियों के बीच इसके पाठ के प्रयास किए। पर भावावेश से गला रुँध जाने और आँखें भर आने के कारण वह उसे कभी भी स्वयं पूरी पढ़ नहीं सके। रचनाकार कवि की ओर से सन्देशवाहक कवि कहता है-

'भूमिका में हूँ मैं
सीधे-सादे सन्देशवाहक की
दुस्साहस करता जोड़ने की
अलग संसारों की
दो सगोत्री आत्माओं को
दूसरे संसार की
यात्रा के दौरान।'

पश्चिम की आधुनिक सभ्यता का प्रबल प्रतिरोध 'हिन्द स्वराज' का मूल स्वर है। कभी न तृप्त होने वाली अबाध औद्योगीकरण की भूख ही इस सभ्यता का उत्स है। गाँधी अपने इस दृढ़मत से कभी डिगे नहीं। बीसवीं सदी के पूर्व की लगभग तीन सदियों के दौरान धन-लोलुप पश्चिमी देशों ने एशिया और अफ्रीका के देशों को उनके विपुल संसाधनों के धूर्ततापूर्ण दोहन के लिए एक लम्बे अर्से तक अपना उपनिवेश बना रखा था। पर इन चतुर उपनिवेशवादियों के ओठों पर छद्म मंत्र सभ्यता के प्रसार का होता था। बहरहाल किसी सूरत से बीसवीं सदी के छठवें दशक तक ये देश एक-एक कर उपनिवेशवाद के चंगुल से मुक्त हुए। पर शीघ्र ही सद्यः अस्तंगत पिछली सदी के अन्तिम ढाई दशकों के दौरान पश्चिम का नवउपनिवेशवाद बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के मायावी बाने

में इन देशों में फिर पहुँच गया।

नव उपनिवेशवाद के ओठों पर इस बार मंत्र आर्थिक विकास का था। जिसका सीधा मतलब था इन अभिशप्त देशों के प्राकृतिक संसाधनों का एक बार फिर नए सिरे से बेशर्म दोहन और परिणाम था इन संसाधनों पर युगों से आश्रित सरल निश्छल लोगों का निर्दय विस्थापन। हमारे दिमागों में यह कूट-कूटकर भरने की कोशिश की गई कि बिना औद्योगिक विकास के सुखमय जीवन सम्भव नहीं है। 'हिन्द स्वराज' में और अपने आगे के निरन्तर चिन्तन में गाँधी इस विचार के विरुद्ध हमें आगाह करते रहे हैं। वह जानते थे और बताते थे कि महाकाय मशीनों के जरिए व्यापक औद्योगीकरण के फलस्वरूप सुख के सपने की भयावह परिणति हमारे पर्यावरण के भीषण विनाश में ही होगी। इससे अभिशप्त मनुष्य जाति सम्भवतः फिर कभी उबर नहीं सकेगी।

आज औद्योगिक विकास और पर्यावरण विनाश एक-दूसरे के पर्याय बन गए हैं। पर्यावरण की वेदी पर शहीद केन सारो वीवा और उनके आठ अदम्य सहयोगी अपने समय, समुदाय और आगामी मनुष्य की दुर्नियति के इस दुःस्वप्न से गहरे उद्वेलित थे। ईसा और गाँधी के अमृत मानसपुत्र इन अश्वेत पर्यावरण-योद्धाओं ने अपने शहादत के पवित्र रक्त से भावी पर्यावरणकर्मियों के जुझारूपन की मार्गदर्शिका लिख दी है।

गाँधी से मैंने क्या सीखा

राजकिशोर

महात्मा गाँधी को समझने में मुझे काफी वक्त लगा। शुरू में मैं उन्हें पसंद नहीं करता था। उनकी अहिंसा का महत्व मैं समझ नहीं पाया। यह शब्द मुझे आकर्षित तो करता था, पर मुझे जरा भी एहसास नहीं था कि गाँधी की निगाह में इसका अर्थ क्या है। मेरी सीमित समझ में, अहिंसा का मतलब था मार-पीट न करना या हथियार नहीं चलाना। इसके अलावा मामला धर्म का भी था। गाँधी मुझे एक धार्मिक व्यक्ति लगते थे। धर्म से, खासकर ईश्वर से, मुझे शुरू से ही चिढ़ रही है। फलस्वरूप भजन, प्रार्थना वगैरह से मुझे विराग था। उपवास का मामला और भी उलझन से भरा हुआ था। इसकी नैतिकता के बारे में मुझे शक था। सच की खातिर मुझे यह कहना होगा कि गाँधी का बाह्य व्यक्तित्व भी मुझे उनकी ओर खींचता नहीं था।

अपने उस अज्ञान और मूर्खतापूर्ण दौर के लिए मैं अब बहुत पछताता हूँ। यह एक बुनियादी बात समझने में मुझे काफी लंबा वक्त लग गया कि किसी को भी अच्छी तरह जाने बिना उसे खारिज नहीं करना चाहिए। जवानी में आदमी अकसर जल्दबाज होता है। मैं भी था, जिसका नतीजा मेरे लिए अच्छा नहीं रहा। मैं विचारक और राजनीतिज्ञ के तौर पर राममनोहर लोहिया से सबसे ज्यादा प्रभावित था। मजे की बात यह है कि लोहिया स्वयं गाँधी से बहुत ज्यादा प्रभावित थे। लेकिन लोहिया के इस पहलू को थोड़ा-बहुत समझते हुए भी मैंने इसे कोई महत्व नहीं दिया। निश्चित रूप से यह मेरे द्वारा अपने गुरु की अवमानना थी।

गाँधी के प्रति मेरा अज्ञान तब तक बना रहा जब तक मैंने उनका लिखा हुआ नहीं पढ़ा था। किसी भी व्यक्ति के बारे में दूसरे लोग क्या कहते हैं, यह अकसर बहुत काम का नहीं होता। हमें उसे अपने स्तर पर जानने की कोशिश करनी चाहिए। दूर के ढोल सुहावने भी हो सकते हैं और कर्कश भी। वास्तविकता क्या है, इसका फैसला नज़दीक से ही हो सकता है। आज मैं यह दावा करने की स्थिति में हूँ कि मैं जैसे-जैसे गाँधी का साहित्य पढ़ता गया, मेरी आँख खुलती गई। मैंने

दुनिया को एक नई नज़र से देखना शुरू कर दिया। यही दावा मैं मार्क्स के प्रति अपने नज़रिए के बारे में कर सकता हूँ। मार्क्स के प्रति मेरा आदर तब बढ़ने लगा जब मैं उनका लिखा हुआ पढ़ने लगा। भाष्यकारों पर बहुत विश्वास नहीं करना चाहिए। मूल में जो सफाई और आनंद है, वह भाष्य में कहाँ! गाँधी से नफरत करनेवालों से मेरा अनुरोध है कि वे पहले मूल गाँधी को पढ़ें, तब उनके बारे में कोई राय बनाएँ। जो ऐसा नहीं करते हैं, वे अपना ही नुकसान करते हैं।

मैं समझता हूँ, गाँधी के बारे में मेरा जो रुख पहले था, वही रुख बहुत-से लोगों का मार्क्स के प्रति आज भी है। मार्क्स को भी पढ़े बिना ही उनकी आलोचना की जाती है। खासकर भारत के समाजवादियों में मार्क्सवाद को गाली देने की परंपरा रही है। ऐसे लोगों से मेरी प्रार्थना है कि वे मार्क्स की मूल रचनाओं को पढ़ें। मार्क्स और मार्क्सवाद एक नहीं हैं। मार्क्सवाद के नाम पर मार्क्स में बहुत कुछ ऐसा जोड़ दिया गया है जो मार्क्स का स्वाभाविक विस्तार नहीं है। ठीक यही बात गाँधी के भी बारे में कही जा सकती है या नहीं, इस बारे में मैं कुछ कहना नहीं चाहता, पर इतना निश्चित है कि गाँधी के लिखे और बोले हुए में जो रस है, वह काका कालेलकर को छोड़ कर मुझे कहीं और नहीं मिला। उदाहरण के लिए, 'हिंद स्वराज' में जो प्रेम, आवेग, सहजता और संकल्प है, उसका दस प्रतिशत भी इस पोथी पर लिखी गई किताबों में दिखाई नहीं देता। यही वजह है कि जब भी गाँधी का कुछ नया दिख जाता है, बड़े चाव से पढ़ता हूँ। कुछ को तो दुबारा-तिबारा भी पढ़ता रहता हूँ।

गाँधी कितने महान थे, यह लिखते-पढ़ते मैं अब ऊब और थक गया हूँ। गाँधी महान थे, तो मुझे क्या। अब मेरा पक्का विचार है कि कोई कितना भी महान हो, अगर उससे मैं कुछ सीख नहीं पाता, तो सब मिट्टी है। किताबों में लिखा हुआ या किसी व्यक्ति के पास संचित ज्ञान बैंक खाते में जमा कागज है। जब हम उस कागज को बैंक से निकालते हैं और खर्च करते हैं, तभी वह पैसा बनता है। अन्यथा हम उस पर गरूर कर सकते हैं, उसके बारे में सोच कर खुश हो सकते हैं, पर उससे हमारा कुछ भला नहीं हो सकता। मानवता के पास ज्ञान और अनुभव का जितना विशाल संचित कोष है, उसके एक प्रतिशत का भी विनियोग हम अपनी जिंदगी में कर सकें, तो कुछ भी बदले बिना नहीं रह जाए। लेकिन अकूत संपत्ति का उत्तराधिकारी होते हुए भी हम दीन-हीन बने रहते हैं।

यह बात मैंने गाँधी से ही सीखी है। गाँधी जी ने पढ़ाई काफी की थी, पर वे पढ़ाकू नहीं थे। जवाहरलाल नेहरू, भीमराव अंबेडकर और राममनोहर लोहिया उनसे कहीं ज्यादा पढ़े-लिखे नेता थे। गाँधी की खूबी यह थी कि उन्होंने जितना पढ़ा, उसका अच्छी तरह मनन किया। वे पढ़ने के लिए नहीं पढ़ते थे। न ही चाहते थे कि दुनिया उन्हें विद्वान के रूप में जाने। संभवतः उन्हें शुरू से ही एहसास था कि छटाक भर सदाचरण मन भर विद्वत्ता पर भारी पड़ता है। गाँधी की तलाश सत्य के लिए थी। सत्य संसार का भी होता है और जीवन का भी। गाँधी जानना चाहते थे कि संसार की सच्चाई क्या है और सर्वश्रेष्ठ ढंग से जीना क्या होता है। सत्य की खोज में ही वे अहिंसा की तरफ आए। कभी वे कहते थे कि ईश्वर ही सत्य है। बाद में उन्होंने कहना शुरू कर दिया कि सत्य ही ईश्वर है। सत्य अनुभव और विचार का मामला है, तो अहिंसा चरित्र का विषय है। गाँधी की नजर में, सत्य वहीं तक सत्य है जहाँ तक वह अहिंसा में प्रगट होता है। चरित्र एक तरह से हमारे संपूर्ण व्यक्तित्व का निचोड़ है। मैं कितना जानता हूँ, मेरे विचार कितने ऊँचे हैं, मैं कितना बेहतर लिखता या बोलता हूँ- अगर मैं चरित्रहीन हूँ, तो इस सब का कोई मतलब नहीं है। अज्ञान को माफ किया जा सकता है, चरित्र की दुर्बलता को नहीं।

लेकिन यह तो कहने की शैली हुई। यह मैंने गाँधी से ही सीखा कि माफी का अधिकारी हर कोई है। गाँधी का व्यक्तित्व इतना बड़ा था कि वे किसी को भी माफ कर सकते थे। हम साधारण लोग हैं, बहुत जल्द उत्तेजित हो जाते हैं। हमारा चित्त इतना संकुचित है कि हम किसी को माफ नहीं कर सकते- यहाँ तक कि एकदम अपनों को भी नहीं। पर हृदय परिवर्तन में गाँधी का यकीन सच्चा और गहरा था। यह परिवर्तन तभी मुमकिन है जब हम दूसरों को अपने से विलग समझने के बजाय उन्हें अपना मानें। इसीलिए गाँधी कभी-कभी दूसरों की गलतियों के लिए अपने को ही जिम्मेदार मानते थे। जो लोगों के निकट आ सकता है, वही उन्हें बदल भी सकता है। यही कारण है कि बीसियों तरह के लोग गाँधी के निकट आए। गाँधी के दिल में सब के लिए जगह थी। उन्होंने जिस काम का बीड़ा उठाया था, उसमें हर किसी की अपनी-अपनी भूमिका थी। न कोई छोटा था, न बड़ा।

समाजवादी आंदोलन में बराबरी की यह भावना अंतर्भुक्त थी। लेकिन इसकी प्रतिछवि समाजवादियों के आचरण में हमेशा दिखाई नहीं पड़ती थी। गाँधी से प्रभावित होने के बाद मेरे लिए यह संभव नहीं रहा कि मैं ओहदा, दौलत, जाति आदि के आधार पर अलग-अलग लोगों के साथ अलग-अलग व्यवहार करूँ। इसके कारण मुझे प्यार भी मिला और लल्लू भी समझा गया- सत्ता को सलाम न कर पाने के कारण कुछ की नजर में मैं अकड़ू था और आज भी हूँ। लाइन तोड़ कर आगे बढ़ जाने में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है।

गाँधी की जिंदगी में प्रायश्चित का बहुत महत्व था। वे न केवल स्वयं प्रायश्चित करते थे, बल्कि दूसरों से भी इसकी उम्मीद करते थे। कई बार तो वह दूसरों की गलतियों या नादानियों के लिए भी स्वयं को दंडित करते थे। लेकिन उन्होंने अपनी गलतियों के लिए अपने आपको कभी माफ नहीं किया। अपनी गलती को स्वीकार करने में उन्हें मानसिक शांति मिलती थी। वह प्रसंग पढ़ कर किसकी आँखें गीली नहीं हो जाएँगी जब बालक मोहनचंद ने अपने द्वारा चोरी करने की बात चिट्ठी में लिख कर अपने पिता को दी, जिसे पढ़ चुकने के बाद वे और उनके साथ उनका बेटा, दोनों की आँखों से आँसुओं की धार बहने लगी। गाँधी ने ऐसा तब भी किया जब वे वकालत की पढ़ाई करने लंदन गए और वहाँ अपनी मकान मालकिन की जवान बेटियों के साथ इश्क फरमाने लगे। मुझे पूरा यकीन है कि गोडसे की गोलियों से गाँधी जी मरते नहीं, बल्कि बच जाते, तो वे अपने ऊपर गोली चलाने वाले को माफ कर देते। गाँधी को पढ़ते रहने के बाद मैं यह दावा कर सकता हूँ कि अब मुझे गुस्सा कम आता है और मेरे मन में किसी के प्रति विद्वेष पैदा हो जाता है, तो मैं अपने दिल की गंदगी से लड़ता रहता हूँ। अगर मैं आस्तिक होता, तो गाँधी की तरह मैं भी ईश्वर से यही प्रार्थना करता कि मुझे अपने पाप के लिए माफी नहीं, सजा चाहिए।

हाल ही में मैंने अपने कुछ नैतिक स्खलनों का प्रायश्चित करते हुए कई दिनों तक उपवास रखा और उसके बाद एक बेला खाना खाता रहा। इससे मुझे बहुत संतुष्टि मिली। खेद के साथ स्वीकार करता हूँ कि इस दौरान चाय और सिगरेट के धुएँ का परित्याग नहीं कर सका। गाँधी बार-बार कहते थे कि इंद्रियों पर नियंत्रण अहिंसक जीवन की पहली सीढ़ी है। इस कसौटी पर मैं अपने आपको लगभग पूरी तरह फेल मानता हूँ। इस विफलता का एहसास मेरे भीतर निरंतर बना रहता है, यह कह कर मैं अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता। जिस आदमी का अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रहा, जो आदत का गुलाम हो गया, वह कभी सुखी और स्वस्थ नहीं रह सकता। यह समझ गहरी हो जाने के बाद हो सकता है मेरा मनोबल बढ़े और मैं अपनी तमाम बुराइयों से लड़ने लायक बन सकूँ। अभी तो जब भी गाँधी को पढ़ता हूँ, मेरी आँखों में आँसू आ जाते हैं।

उनके जैसा शिक्षक कोई और भी है, मैं नहीं जानता। दुनिया में और किस व्यक्ति ने यह दावा किया है कि मेरा जीवन ही मेरा संदेश है?

मेरे साथ जो सबसे अच्छी बात हुई, वह यह है कि गाँधी से मैंने बोलना और लिखना सीखा। इससे मुझमें कुछ हद तक आत्मनियंत्रण की क्षमता आई। पहले मेरी अभिव्यक्ति बेहद तुर्श हुआ करती थी। भाषा में कटुता थी। क्षोभ और क्रोध का पारावार नहीं था। अब मैं जान गया हूँ कि कड़ी से कड़ी बात कहने के लिए कठोर भाषा की जरूरत नहीं है। अपनी बात कहते हुए या अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते समय कभी भी नम्रता का त्याग नहीं करना चाहिए। शक्ति शैली में नहीं, विचारों में होती है। अपने विचारों पर अडिग रहते हुए भी अपनी बात कितनी विनय के साथ कही जा सकती है, यह कोई गाँधी से सीखे। राजद्रोह पर मुकदमे में अपनी पैरवी करते हुए गाँधी ने न्यायाधीश से कहा, मिस्टर जज, मैं स्वीकार करता हूँ कि मैं राजद्रोही हूँ, क्योंकि वर्तमान परिस्थिति में यही मुझे अपना फर्ज लगता है। अगर आप मुझसे असहमत हैं, तो मुझे कड़ी से कड़ी सजा दीजिए। अगर आप मुझसे सहमत हैं, तो अपने पद से इस्तीफा दे कर मेरी लड़ाई में शामिल हो जाइए। लेकिन गाँधी कभी-कभी बहुत उग्र भी हो सकते थे। उन्होंने एक वायसराय को पत्र लिखा कि भारत में इतनी दरिद्रता है कि आपकी निजी सुरक्षा पर जितना खर्च हो रहा है, उसे देखते हुए आपको मर ही जाना चाहिए। हम समझ सकते हैं कि इसके पीछे वायसराय की मृत्यु कामना नहीं थी, बल्कि यह उसकी जीवन शैली और ब्रिटिश शासन की क्रूरता पर एक क्षुब्ध टिप्पणी थी। फिर भी मैं यह अनुमान लगाने की अनुमति चाहता हूँ कि गाँधी ने यह बात भारत में अपने राजनीतिक जीवन के प्रारंभ में कही थी- बाद में वे शायद इतना हृदयविदारक जुमला नहीं कह सकते थे।

गाँधी से मैंने यह भी सीखा कि कैसी भी परिस्थिति हो, अन्याय का विरोध जरूर करना चाहिए। जो ऐसा नहीं कर पाता, वह नामर्द है। गाँधी जी ने नामर्द शब्द का इस्तेमाल बार-बार किया है। ऐसा करके वे शायद भारतीय जन की सुप्त मर्दानगी को जगाना चाहते थे। लेकिन उन्होंने परुषता की कभी तारीफ नहीं की। मजबूत आदमी ही अन्याय का विरोध कर सकता है और वही अन्यायी के प्रति उदार भी हो सकता है। इस प्रसंग में मैं सिर्फ इतना जोड़ना चाहता हूँ कि जब से मैं गाँधी के नजदीक आया, मौत का डर मेरे मन से हमेशा के लिए हट गया। मुझे उम्मीद है कि अन्याय का विरोध करते हुए कभी मौत ने मुझे घूर कर देखा, तो मैं जीवन की भीख नहीं माँगूँगा।

गाँधी से मैंने यह भी सीखा कि किसी-किसी मामले में चुप रहना कितना जरूरी है। अपनी आलोचना को शांतिपूर्वक सुनना चाहिए और उस पर मनन करना चाहिए। विमत से घबराना नहीं चाहिए। न विरोधी पर हमला करते रहना चाहिए। इस सबसे अपनी ऊर्जा का क्षय होता है और हाथ कुछ आता नहीं है। पहले मैं अपनी हर आलोचना से उद्वेलित हो जाता था आलोचना से लंबी प्रति-आलोचना लिख डालता था। इसमें गुस्सा होता था, अकसर प्रतिशोध का भाव भी। अब ज्यादातर या तो चुप रहता हूँ या मुस्करा देता हूँ। जवाब देने की इच्छा नहीं होती। मन में यही आता है कि वह अपना काम कर रहा है, मुझे अपना काम करना चाहिए। पहले मैं अपने आलोचकों के पक्ष को बिलकुल नहीं देख पाता था। अब इसकी कोशिश करता हूँ और आवश्यक लगता है तो अपने को सुधारने का प्रयत्न भी करता हूँ। जीवन में उत्तेजना का जितना महत्व है, उतना ही संयम का भी। बल्कि संयम न हो तो उत्तेजना का रचनात्मक उपयोग नहीं हो पाता। पर संयम इतना भी नहीं होना चाहिए कि वह आदमी को जड़ और निष्क्रिय कर दे। जीवंतता को

किसी भी कीमत पर छोड़ा नहीं जा सकता। स्वीकार करता हूँ कि इस दिशा में अभी एक-दो कदम ही उठा पाया हूँ। गाँधी से सीखता रहा, तो जल्द ही कुछ और आगे बढ़ सकूँगा।

गाँधी इस कला के मास्टर थे। उनके जीवन काल में भी उन पर तरह-तरह के आक्षेप लगाए जाते थे। उनके सबसे बड़े आलोचक अंबेडकर और कम्युनिस्ट थे। कांग्रेस नेतृत्व के भीतर भी उनका वैचारिक विरोध कम नहीं था। यह गाँधी का ही बूता था कि वे इस सबको शांति और धीरज के साथ सहते थे और अपने काम में लगे रहते थे। वे जानते थे कि अगर उनके भीतर सचाई है, तो वह उनके आलोचकों और विरोधियों को भी प्रभावित करेगी। लेकिन अपनी वैध आलोचना को मंजूर करने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता था। अंबेडकर गाँधी की तीव्र भर्त्सना किया करते थे। इस पर गाँधी की टिप्पणी थी कि दलितों के साथ हिंदू समाज ने जो सलूक किया है, उसे देखते हुए दलित मेरे चेहरे पर थूक भी दें, तो वह कम होगा।

अभी तक मैं गाँधी के आचरण की चर्चा करता आ रहा हूँ। अब गाँधी विचार के एक केंद्रीय पहलू का जिक्र करना चाहता हूँ जिससे मुझे लोकतंत्र, राजनीति, अर्थव्यवस्था, नैतिकता आदि के लिए आवश्यक तथा वांछित परिस्थितियों के बारे में एक निर्णय तक पहुँचने में सफलता मिली है। मेरा खयाल है, 'ग्राम स्वराज' गाँधी विचार के केंद्र में है। इसका अर्थ पंचायत राज, गाँवों की स्वायत्तता आदि से लगाया गया है। इसमें एक-चौथाई सच भी नहीं है। जब तक बड़े-बड़े शहर मौजूद हैं, उत्पादन की भीमकाय मशीनें कायम हैं, राज्य का आकार बड़ा है, सेनाएँ बनी हुई हैं, तब तक ग्राम स्वराज आ ही नहीं सकता और इसके बिना कोई भी समाज व्यवस्था नैतिक नहीं हो सकती। मैं अब दावे के साथ कह सकता हूँ कि बड़ी-बड़ी बसाहटों में लोकतंत्र हो ही नहीं सकता, न समाजवाद संभव है। जीने की सामाजिक व्यवस्था छोटी सामाजिक इकाइयों में ही संभव है। बड़े राज्यों में असामाजिकता आ जाना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य है। इससे अनेक प्रकार की तानाशाहियाँ जन्म लेती हैं।

मेरी बातों से यह नहीं लगना चाहिए कि गाँधी से सीखने के लिए यही सब है। इससे बढ़ कर गलती कुछ और नहीं हो सकती। वे मानवता के महासागर थे। ऐसा कोई और व्यक्ति न हुआ है, न मेरी समझ से कोई और होगा। उनके हर निर्णय और हर काम में कुछ न कुछ संदेश निहित होता था। खुद मैंने गाँधी में और भी बहुत कुछ सीखने को पाया है, पर समुद्र से आदमी उतना ही ले पाता है जितना बड़ा पात्र उसके पास है। कुछ चीजों को मैंने ग्रहण किया और अपने जीवन में आजमाना भी चाहा, पर यह प्रयोग दो-चार दिनों या दो-एक अवसरों से ज्यादा नहीं टिक पाया। यह जबरदस्त विफलता है और जब भी इसकी याद आती है, मैं अपने आपसे आँख नहीं मिला सकता।

यहाँ उन दो-तीन चीजों पर अपना एतराज मैं नहीं दर्ज करूँगा जो गाँधी के लिए जीवन रेखा थी, तो अपने साथ और गाँधी के साथ भी अन्याय करूँगा। ब्रह्मचर्य के बारे में गाँधी के विचारों से मैं कभी भी सहमत नहीं हो सका। गाँधी का मानना था कि स्त्री-पुरुष को सहवास तभी करना चाहिए जब उन्हें संतान पैदा करने की इच्छा हो। यह धारणा मुझे तर्कहीन ही नहीं, मानव स्वभाव के बिलकुल प्रतिकूल लगती है। जिस धर्म ने भी यौनिकता के दमन पर ज्यादा जोर दिया, वह समाज में अपने को स्थापित नहीं कर पाया। मेरे खयाल से, यौनिकता बुरी या अनैतिक चीज नहीं है। जीवन व्यवस्था का रूप जो भी हो, उसमें इसके लिए उचित स्थान होना चाहिए। गाँधी परिवार नियोजन के लिए बाह्य साधनों के प्रयोग का समर्थन नहीं करते थे। इसके पीछे उनकी जो धारणाएँ थीं, उनसे मैं अभी भी कायल नहीं हो सका।

दूसरी चीज है, जीवन के उद्देश्य के बारे में गाँधी की अवधारणा। उनका मानना था कि मानव जीवन का उद्देश्य दूसरों की सेवा करना है। अगर कोई व्यक्ति अपना पूरा जीवन दूसरों की सेवा के लिए समर्पित कर दे, तो मैं हजार बार उसे सलाम करूँगा, पर किसी भी व्यक्ति से इसकी माँग नहीं कर सकता। मेरी तुच्छ समझ में, अगर आदमी समाज-विरोधी काम नहीं करता, किसी का शोषण नहीं करता, किसी के साथ जबरदस्ती नहीं करता और अपने ढंग से जीता है, तो इस पर एतराज करने की कोई वजह नहीं है। मूलतः आदमी अपने लिए ही जीता है, किसी और के लिए नहीं। यह जरूर है कि उसके अपनेपन की सीमा में जो अन्य लोग आ जाते हैं, वह उनके लिए भी जीता है। जरूरत पड़ने पर उसे देश और समाज के लिए अपनी जान देने के लिए भी तैयार रहना चाहिए, क्योंकि जब तक समाज है, तभी तक वह है। मैं मानता हूँ कि समाज अपने आपमें एक बड़ा मूल्य है। अन्य मूल्यों को अपने आपको उसका खादिम समझना चाहिए। लेकिन व्यक्ति के मूल्य भी इतने महत्वपूर्ण हो सकते हैं जिनके बचाव के लिए कोई समाज से भी संघर्ष कर सकता है। मेरा खयाल है, यह गाँधी की विचारधारा के अनुकूल ही है।

प्रिय पाठक, मेरे यह बयान बहुत कुछ दंभोक्ति लग सकता है। वास्तव में यह दंभोक्ति है भी। इसका मतलब यह नहीं है कि जो कुछ मैंने लिखा है, वह झूठ है। इस बयान में झूठ इतना ही है कि गाँधी से मैंने जो कुछ सीखा है, उस सब पर अमल अपनी बहुत सीमित क्षमता के अनुसार ही कर पाया हूँ। इसके साथ ही, मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि जब भी गाँधी को याद करता हूँ, तो मुझे अपनी इस क्षमता को बढ़ाने की ऊर्जा मिलती है। वास्तव में, हो सकता है, मैं उससे बहुत बुरा होऊँ, जितना कोई अन्य व्यक्ति मेरी परिस्थितियों में हो सकता था।

गाँधी का साहित्य-चिंतन

श्रीभगवान सिंह

गाँधी और राष्ट्रीय आंदोलन, गाँधी और धर्म, गाँधी और अहिंसा, गाँधी और दलित या अछूतोद्धार एवं हरिजन जैसे विषयों की चर्चा तो काफी होती रही है लेकिन गाँधी और साहित्य की चर्चा नगण्य-सी रही है। दरअसल 'साबरमती के संत', 'सत्य-अहिंसा के पुजारी' 'राष्ट्रपिता' आदि रूपों में गाँधी की जो छवि बनी हुई है, उससे यह कभी आभासित नहीं होता कि ऐसे व्यक्ति का काव्य, साहित्य कला आदि से भी कोई वास्ता रहा होगा। लेकिन बहुत बड़ा सत्य यह है कि गाँधी जी ने साहित्य एवं कला का, चाहे वे भारतीय हो या विदेशी गहरा अध्ययन कर रखा था और जीवन पर्यन्त उनकी दिलचस्पी इनमें बनी रही। उनके चिंतन को प्रभावित करने में जहाँ देश-काल की परिस्थितियों और विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक चिंतकों के विचारों से गहरे विचार का हाथ रहा, वहीं साहित्य कला के संसार से लगाव ने भी उनके सोच को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। गाँधी प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक के एक गम्भीर अध्येता थे और साहित्य के संबंध में उनकी अपनी खास समझ एवं दृष्टि थी जिसकी तरफ बहुत कम ध्यान दिया गया है।

सुविदित है कि हमारे यहाँ साहित्य को 'रसात्मक वाक्य' का पर्याय या फिर साहित्यिक अनुभूति को ब्रह्मनंद सहोदर बता कर उसे या तो लोकोत्तर वस्तु बना दिया गया था या फिर निहायत मनोरंजन की वस्तु। लेकिन गाँधी की सजगता इस बात में दिखाई पड़ती है कि वे साहित्य कला की लोक, समाज के प्रांगण में ही उपदेयता स्वीकार करते है। यह पूछे जाने पर कि क्या वे कला के लिए कला के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं; गाँधी ने एक पत्र में लिखा 'कला का जीवन में स्थान है, लेकिन कला किसे कहा जाय यह एक अलहदा सवाल है। लेकिन हम सबको जिस मार्ग का अनुसरण करना है उसमें आदि साधन मार्ग है। यही जब साध्य हो जाती है तब वह मनुष्य के लिए बंधन रूप बन जाती है और मनुष्य के पतन का कारण बनती है।'' अगस्त १९३२ प्रेमा बहन

कंटक को लिखे पत्र में गाँधी ने कहा ''सेवा में अपूर्व आनंद है, अतः कह सकते हैं कि विद्याध्ययन आनंद के लिए है। लेकिन आज तक किसी व्यक्ति की सेवा किये बिना केवल साहित्य विलास से अखंड आनंद की अनुभूति होने की बात मैं नहीं जानता। कला पर किसी देश का अथवा व्यक्ति का एकाधिकार नहीं हो सकता। जिस चीज में छिपाने लायक कोई बात है, वह कला नहीं है।''

उपरोक्त वक्तव्यों पर ध्यान देने से साफ पता चलता है कि गाँधी कला को स्वयं में साध्य मानने के विरुद्ध थे। जीवन को अनदेखा कर साध्य स्वरूप की जाने वाली कला की साधना उन्हें स्वीकार्य नहीं। इसी तरह साहित्य भी जीवन की सेवा करने का साधन है। गाँधी की दृष्टि में सेवा विमुख साहित्य विलास तो हो सकता है, परन्तु अखंड आनन्द की अनुभूति का स्रोत नहीं। गौरतलब है कि यह वही समय है जब हिन्दी के महान आलोचक रामचन्द्र शुक्ल साहित्य में लोक मंगल की साधनावस्था पर बल दे रहे थे। गाँधी के यहाँ जो 'सेवा' है, वही शुक्ल जी के यहाँ 'लोकमंगल' के रूप में है। दोनों के 'सेवा' और 'लोकमंगल' में जो साम्य है वह देश दशा के प्रति दोनों की जागरुकता के कारण है। ध्यातव्य है प्रेमचंद भी साहित्य का काम मनोरंजन या महफिल सजाना नहीं मानते थे। अर्थात् साहित्य या कला को गाँधी भी उसी नज़रिये से देख रहे थे जिस नज़रिये से हमारे बड़े साहित्यकार।

गाँधी के उपरोक्त कथन में दूसरी महत्वपूर्ण बात है 'पारदर्शिता' की। ''जिस चीज में छिपाने लायक कोई बात है, वह कला नहीं है'' से स्पष्टतः गाँधी का आशय साहित्य या कला की पारदर्शिता से है। इस पर उनके सत्याग्रह सिद्धान्त की स्पष्ट छाप है। सत्याग्रह में वे कोई बात विरोधी पक्ष से छिपाते नहीं थे। इसी सोच के अनुरूप वे साहित्य या कला से भी कुछ भी गोपनीय न रखने, पारदर्शी होने की अपेक्षा करते है। गौरतलब है फ्रांसीसी साहित्यकार ज्याँ पाल सार्त्र ने बाद में ऐसी ही पारदर्शिता को अपने एक महत्वपूर्ण साहित्य सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित किया।

लेखकों, कलाकारों के दायित्व को गाँधी ने सदैव सामाजिक संदर्भ में ही महत्वपूर्ण माना। १९३१ में जब वे लंदन में थे, तब वहाँ के 'आईलैंड' नामक पत्र के संपादक के साथ बातचीत करते हुए उन्होंने कहा था ''कलाकारों और कवियों का अपने आपको इस युग के व्यापारिक और औद्योगिक प्रभावों की बेड़ियों से मुक्त कराने का आंदोलन एक बहुत ही प्रशंसनीय साहसिक कार्य है, बस उनमें उसे करने लायक शक्ति होनी चाहिए। धर्म कला का सही और चिरस्थायी साथी है।... कला की धर्म से इस बात में गहरी समानता है कि उन दोनों में मूल अनुभूति का क्षेत्र मनुष्य का ईश्वर से संबंध होता है।... कवि या कलाकार को यह अधिकार है कि वह प्रचलित विश्वास या विश्वासहीनता का विरोध करे और उसके अपने अन्तर्ज्ञान के वृहत्तर मूल्य के कारण वह कार्य न्यायोचित होगा। कला के बारे में कुछ जानने का मैं दावा नहीं करता, पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि धर्म और कला दोनों को नैतिक और आध्यात्मिक के एक जैसे उद्देश्यों की पूर्ति करनी है।''

गाँधी द्वारा कला या काव्य को धर्म से जोड़ना धर्मनिरपेक्ष सोचवालों को अटपटा लग सकता है। यहाँ पर विस्तार में उनके धर्म संबंधी विचारों के उल्लेख का अवकाश नहीं है, फिर भी प्रसंगवश निवेदन है कि गाँधी के समग्र चिंतन के केन्द्र में जो धर्म था वह समस्त धर्मों के श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों का निचोड़ था और उसमें पीरपराई या परदुखकातरता की प्रधानता थी। इसलिए जब वे कला या साहित्य के धर्म से जुड़े होने की बात करते हैं तो वे निश्चय ही कला एवं साहित्य को मानव-कल्याण की भूमिका में देखना चाहते हैं। चूँकि यह काम 'कला कला' के लिए मानने वाले नहीं करते, इसलिए वे ऐसी कलावादी साधना को प्रश्रय देने वाले कलावाद का प्रतिवाद करते हैं।

नैतिक और आध्यात्मिक गुणों का उत्कर्ष गाँधी के लिए सदैव महत्वपूर्ण रहा, अतएव धर्म के साथ कला को भी उन्होंने मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए जिम्मेवार माना। इसके लिए वे कलाकार या कवि के प्रचलित विश्वास का विरोध करने का अधिकार भी स्वीकार करते हैं जो एक बहुत बड़ी बात है, क्योंकि कितने ही दार्शनिकों-चिंतकों ने कवि की विद्रोही भंगिमा को देखते हुए कवि कर्म पर अंकुश रखने का समर्थन किया है। समस्त नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान को बकवास माननेवालों को गाँधी द्वारा कला एवं काव्य पर नैतिक-आध्यात्मिक उत्थान का दायित्व मानने से असहमति हो सकती है, किन्तु यह तो मानना ही पड़ेगा कि गाँधी का न केवल मानव-समाज, बल्कि समस्त जगत का हित साधने का जो दृष्टिकोण था, ढंग था, उसी के अन्तर्गत उन्होंने कला एवं साहित्य का महत्व स्वीकार किया।

गाँधी के विचारों को देखने से यह साफ पता चलता है कि वे ऐसी कला के पक्षधर थे जो मनुष्य को ऊँचा उठाये। इसके लिए वे यथार्थ चित्रण को ही सब कुछ नहीं मानते थे। प्रेमा बहन कंटक को लिखे पत्र में उन्होंने यूरोप एवं भारत की कला के संबंध में जो कुछ कहा दृष्टव्य है ''भारत की कला कल्पना प्रधान है। यूरोप की कला में यथार्थ का अनुकरण है। इससे पश्चिम की कला को समझना तो शायद सरल हो, लेकिन समझने के बाद वह हमें पृथ्वी पर चिपकाये रहती है। और भारत की कला जैसे-जैसे समझ में आती है, वैसे-वैसे वह हमें ऊँचाई पर ले जाती है।'' जाहिर है गाँधी के लिए कला की श्रेष्ठता इस बात में भी है कि वह केवल यथार्थ का ज्ञान कराकर उसी तक आबद्ध न रखे, अपितु व्यक्ति के सोच को ऊपर भी उठाये, उत्कर्षता प्रदान करे।

साहित्य जनता के नैतिक, आध्यात्मिक उत्थान के लिए लिखा जाये, यह गाँधी की दृढ़ मान्यता थी। लेकिन इसके लिए साहित्य का भौतिक परिस्थितियों से विमुख होना भी वे उचित नहीं समझते थे। एक बार गुजरात साहित्य परिषद्, अहमदाबाद में भाषण करते हुए गाँधी ने 'एलिसेस एडवैंचर्स इन वंडरलैंड' के लेखक लुई कैरल का उदाहरण देते हुए कहा ''लुई के मन में पुस्तक लिखने का विचार आया तो उसने अपने बच्चों के लिए पुस्तकें लिखीं। उसके बच्चों ने तो उनका लाभ उठाया ही, आज के हमारे स्त्री-पुरुष तथा बालक भी उनसे लाभ उठा रहे हैं। मैं अपने साहित्य लेखकों से ऐसा ही साहित्य चाहता हूँ। मैं उनसे बाणभट्ट की 'कादम्बरी' नहीं, तुलसीदास की 'रामायण' माँगता हूँ। 'कादम्बरी' हमेशा रहेगी अथवा नहीं, इसके विषय में मुझे शंका है, लेकिन तुलसीदास का दिया हुआ साहित्य तो स्थायी है। फिलहाल साहित्य हमें रोटी, घी और दूध ही दे, बाद में हम उसमें बादाम, पिस्ते आदि मिला कर 'कादम्बरी' जैसा कुछ लिखेंगे।... जनता की उन्नति तभी हो सकेगी जब साहित्य सेवक किसानों, मज़दूरों तथा ऐसे ही अन्य लोगों के लिए काव्य रचना करेंगे, उनके लिए लिखेंगे। मेरी हार्दिक कामना है कि हमारी जनता सत्य लिखने लगे सत्य बोलने लगे और सत्य का आचरण करने लगे।''

शुद्ध साहित्य के प्रेमी साहित्य को प्रचार का साधन बनाने का हमेशा विरोध करते रहे हैं। लेकिन गाँधी 'जनता सत्य लिखने लगे, सत्य बोलने लगे और सत्य का आचरण करने लगे' जैसे कार्य में साहित्य की भूमिका मान्य करते हुए प्रचारक के रूप में उसकी गरिमा को स्वीकार करते हैं। ऐसा ही मन्तव्य उन्होंने एक बार हरिजन-सेवकों की सभा में बोलते हुए प्रकट किया था ''काव्य और कला को सत्य के प्रचार का साधन होना चाहिए, उनका उपयोग कभी भी चापलूसी के लिए नहीं करना चाहिए, क्योंकि कविता के ऐसे प्रयोग से न केवल कला का ही ह्रास होगा, बल्कि सत्य का भी खंडन होगा।'' गाँधी का यह कथन उनकी 'साहित्य या कला में पारदर्शिता होनी चाहिए' वाली धारणा की संगति में ही है। पारदर्शिता का उत्स सत्य कथन ही तो होता है। सत्य के

प्रचारक के रूप में साहित्य की गरिमा, प्रतिष्ठा, विश्वसनीयता आदि में इजाफा होता है जबकि झूठी विरूदावली या प्रशंसा के गीत रचकर साहित्य अपनी प्रतिष्ठा में बट्टा लगाता है, यही कहने का मतलब है गाँधी का।

पूर्वोक्त वक्तव्यों के आलोक में स्पष्ट है कि गाँधी एक तरफ साहित्य को मनुष्य के नैतिक व आध्यात्मिक उत्थान के लिए उत्तरदायी मानते है, तो दूसरी तरफ वे जन साधारण की समस्याओं की तरफ ध्यान देना भी साहित्य का महत्वपूर्ण काम मानते है। रोटी, घी और दूध आम आदमी की चाहत, आवश्यकता होती है जबकि बादाम, पिस्ते विशिष्ट जनों की। 'कादम्बरी' जैसी रचना बादाम-पिस्ते की श्रेणी में है, तो तुलसीदास की 'रामायण' रोटी-दूध की श्रेणी में। इसलिए जनता के बीच अधिक लोकप्रिय है। गाँधी इसी तरह के साहित्य के पक्षधर हैं जो स्पष्टतः साहित्य के प्रति उनके जनवादी दृष्टिकोण को प्रकट करता है। अपने प्रसिद्ध लेख 'महान प्रहरी' में रवीन्द्र नाथ ठाकुर को लक्ष्य करते हुए गाँधी ने दो टूक शब्दों में ऐसी कविता की मांग की थी जो आदमी की भूख मिटाने में मददगार हो। द्रष्टव्य है उस लेख का अंतिम अंश ''मैनें तो किसी को रूग्ण व्यक्ति की पीड़ा को कबीर का कोई भजन सुना कर दूर कर पाना असंभव ही पाया है। करोड़ों भूखे लोग आज एक ही कविता की मांग कर रहे हैं- भूख मिटाने वाली भोजन रूपी कविता की।'' विदित है कि रवीन्द्रनाथ कबीर के अध्यात्मकपरक रहस्यवादी पदों के बहुत प्रेमी थे और उन्होंने कबीर के ऐसे सौ पदों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। गाँधी का संकेत इसी तरफ था। जाहिर है कि गाँधी को ऐसे भजन में, चाहे वे कबीर के हों या रवीन्द्रनाथ के, कोई दिलचस्पी नहीं जो पेट की भूख मिटाने का कोई रास्ता नहीं बता सके।

स्मरणीय है कि १९३६ ई. में जब प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई तो उसके बाद 'कस्मैदेवाय' की तर्ज पर 'साहित्य किसके लिए' जोरदार बहस चलाते हुए प्रगतिशील रचनाकारों ने किसानों, मज़दूरों यानी आम जनता के पक्ष में, उनकी समस्याओं से संबंध रखने वाले साहित्य लेखन पर बल दिया और आज भी जनवादी लेखन के नाम पर यह मांग कायम है। निश्चय ही इसमें मार्क्सवादी विचारों का बहुत प्रभाव रहा है और इसकी चर्चा भी खूब की जाती है। किन्तु गाँधी ने भी अपने चिंतन में धर्म और अध्यात्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान देने के बावजूद साहित्यकारों के सरोकारों को जन साधारण किसानों-मजदूरों के संदर्भ में ही मान्य किया। गाँधी साहित्य के माध्यम से जनता में सत्य बोलने, सत्य लिखने और सत्य का आचरण करने का साहस और जागरुकता पैदा करना चाहते थे जबकि मार्क्सवादी सिद्धान्तकार साहित्य के माध्यम से वर्ग संघर्ष की चेतना। इस अन्तर के बावजूद, भावात्मक भाषिक संरचना में साहित्य के संबंध में गाँधी का दृष्टिकोण जनवादी था, इसे झुठलाया नहीं जा सकता। यह दीगर बात है कि इसकी चर्चा हमारे प्रगतिशील लेखन में नहीं के बराबर हुई है।

वस्तुतः गाँधी के साहित्य संबंधी विचार उनके लेखन में इतने व्यापक रूप से फैले हुए हैं कि उन सब को एक अध्याय में समेट पाना संभव नहीं। किन्तु यह जरूर कहा जा सकता है कि गाँधी ने साहित्य में रस-रंजन, मनोरंजन के ऊपर लोक सेवा एवं लोक मंगल को महत्व दिया है। धर्म के इर्द-गिर्द भी साहित्य को देखने के पीछे उनका ध्येय समस्त जीवों के कल्याण की चिंता जैसे व्यापक दायरे में उसे देखना था। वास्तव में गाँधी का साहित्य चिंतन वर्ग बनाम वर्ग, वर्ण बनाम वर्ण, लिंग बनाम लिंग जैसे द्वन्द्वों, भेदों को तिरोहित करते हुए सर्वसाधारण मनुष्यों एवं मनुष्येतर प्राणियों की चिंता करने वाला है।

अब तक के विवेचन में हमने देखा कि साहित्य एवं कला के संबंध में गाँधी का अपना एक

सुनिश्चित दृष्टिकोण था। दया, करुणा जैसे गुणों का कैसे संवर्द्धन हो, यह गाँधी के विचार और आचरण के मुख्य सरोकार रहे। अपने इन सरोकारों के परिप्रेक्ष्य में ही गाँधी ने प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक की परख करते हुए अपने सामाजिक राजनीतिक एवं मानवीय उद्देश्यों की पूर्ति में उनका उपयोग किया।

यह सर्वविदित है कि गाँधी के लिए धर्म अत्यन्त महत्वपूर्ण था और धर्म था उनके लिए दया-भाव, करुणा, सेवा, परदुखकातरता आदि का पूंजीभूत रूप, न कि नाना देवी देवताओं की पूजा-अर्चना। उनके इस प्रकार के सोच में बहुत बड़ी नियामक भूमिका रही मध्यकालीन भक्त कवियों की रचनाओं की। उन पर तुलसीदास का बहुत अधिक प्रभाव दिखाई देता है। अपनी धर्म संबंधी अवधारणा को समझाने के लिए गाँधी तुलसी के इस दोहे का बहुत सहारा लेते थे ''दया धरम को मूल है, देहमूल अभिमान, तुलसी दया न छोड़िये जब लग घट में प्रान''। तुलसी के इस दोहे को अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्द स्वराज्य' में उद्घृत करते हुए गाँधी ने लिखा- ''मुझे तो यह वाक्य शास्त्र वचन की तरह लगता है। जैसे दो और दो चार ही होते हैं, ऊपर के वाक्य पर मुझे उतना ही भरोसा है। दया बल आत्मबल है, वह सत्याग्रह है।''

तुलसीदास की 'रामायण' से गाँधी को एक अन्य महत्वपूर्ण सीख यह मिली कि दूसरों के दोषों को देखने के बजाय उसके गुणों को देखना और अपनाना चाहिए। तुलसी से मिली इस सीख का गाँधी ने कई अवसरों पर अपने पत्रों, लेखों में भाषणों में जिक्र किया है। मसलन मानशंकर त्रिवेदी नामक एक सज्जन को लिखे पत्र में गाँधी परामर्श देते हैं- ''हंस की गति अपनाना। तुलसीदास की रामायण पढ़ते हो क्या? उसे पढ़ने का अभ्यास बनाये रखना बहुत अच्छा है। उसमें यह दोहा है- 'जड़ चेतन गुनदोषमय बिस्व कीन्ह करतार। सन्त हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार'। इस तरह तू भी वहाँ के गुणों को ग्रहण करना और दोषों से बचे रहना।' इसके अतिरिक्त गाँधी ने राजनीतिक दृष्टि से तुलसी की 'रामराज्य' की परिकल्पना का कैसे उपयोग किया, यह सभी को ज्ञात है।

गाँधी को धर्म के मूल स्वरूप को समझने का एक महत्वपूर्ण सूत्र मध्यकाल के गुजराती कवि नरसिंह मेहता से मिला और वे जीवन पर्यन्त उनके भजन 'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीड़ पराई जानेरे' को गाते गवाते रहे। गाँधी ने अछूतोद्धार आंदोलन के दौरान इस भजन का काफी उपयोग किया और अस्पृश्यता जैसी अमानवीय प्रथा के उन्मूलन में नरसिंह मेहता के इस भजन को एक कारगर अस्त्र के रूप में प्रयुक्त किया। इस कार्य में गाँधी ने दूसरे गुजराती कवि अरवा भगत के कथन का भी काफी उपयोग किया। मसलन, नारयणदास गाँधी को लिखे पत्र में गाँधी का यह कथन देखा जा सकता है ''अस्पृश्यता-निवारण यह व्रत भी अस्वाद व्रत की तरह नया है और यह कुछ विचित्र भी लगेगा। अस्पृश्यता यानी अछूतपन, और अरवा भगत ने ठीक ही गाया है कि 'आमड़छेट अदकेरू अंग' यानी अछूतपन तो शरीर का एक व्यंग है, छठी अंगुली के समान यह किसी काम का नहीं है।''

गाँधी प्रेम को बहुत महत्व देते रहे- ऐसा प्रेम जो मनुष्य को सभी भेदों से ऊपर उठाने में सहायक होता है। जब कभी ऐसे प्रेम का प्रसंग आता, वे मीराबाई के पद का अवश्य उल्लेख करते। मीरा का यह पद उन्हें बहुत पसंद था 'काचे रे तांतरगे मन हरिजीए बांधी, जेम ताणे तेम तेमनी रे। मन लागे कटारी प्रेमनी।' इस पद से गाँधी कितने प्रभावित थे, इसे उनके लिखे एक पत्र के इस अंश में देखा जा सकता है ''मीरा को प्रेम की कटारी गहरी लगी थी, प्रेम की वैसी कटारी हमारे भी हाथ लगे और हममे उसे भोंकने का बल आ जाये, तो हम दुनिया को हिला दें।'' इसके

अतिरिक्त गाँधी मीरा को सत्याग्राही के रूप में स्वीकार करते थे। पति के साथ पत्नी का कैसा आचरण हो, इसका आदर्श गाँधी ने मीरा के माध्यम से प्रस्तुत किया। गौरतलब है 'यंग इंडिया' में उनके छपे लेख का यह अंश ''पति अपने को अपनी जीवन सहचरी से सलाह लेने के लिए बंधा नहीं मानता। वह उसे अपनी मिल्कियत मानता है और वह बेचारी जो उसकी इस मान्यता में विश्वास करती है, प्रायः अपनी आत्मा को दबाकर रहती है। मैं समझता हूँ कि इस स्थिति में उभरने का रास्ता है। मीराबाई ने मार्ग दिखा दिया है।''

अमूमन विचार एवं आचरण संबंधी दिशा निर्देश के लिए बड़े-बड़े राजपुरुषों, ऋषियों या धर्म प्रवर्तकों एवं समाज-सुधारकों के उदाहरण पेश किये जाते हैं। साहित्यकारों को इसके लायक कभी समझा नहीं जाता। किन्तु गाँधी की यह भी एक विशिष्टता है कि वे ऐसे संदर्भों में साहित्यकारों का भी उल्लेख कर उनके सामाजिक महत्व को सम्मान देते हैं। मीराबाई का उल्लेख इसी बात का प्रमाण है।

धर्मग्रंथ हो या साहित्यिक कृति, उन्हें पसंद करने, ग्रहण करने का गाँधी का अपना मानदंड था और वह यह था कि सत्य, अहिंसा, दया, करुणा, सेवा आदि गुणों को पुष्ट करने में वे किस हद तक सहायक होते हैं। इसी उपयोगितावादी दृष्टि से उन्होंने साहित्य को जाँचा-परखा और जो बड़ी सी बड़ी साहित्यिक कृति इस कसौटी पर खरी नहीं उतरी, उसे उन्होंने कोई महत्व नहीं दिया, भले ही उसमें श्रृंगार की कितनी भी रसधारा हो। इस संदर्भ में जयदेव की प्रसिद्ध काव्यकृति 'गीत गोविन्द' के संबंध में गाँधी के मन्तव्य द्रष्टव्य हैं। 'नवजीवन' पत्रिका के गुजराती संस्करण में उनके छपे लेख का यह अंश प्रस्तुत है- ''गीतगोविन्द' का मेरे ऊपर अच्छा असर नहीं हुआ। इसलिए मेरे लेखे तो वह त्याज्य ही रहा। मैं उसे त्याज्य मान सका, इसका कारण यह है कि मेरे पास अपना एक मानदंड है। जो वस्तु मुझे निर्विकार कर सकती है, मेरे राग-द्वेष आदि को नरम बना सकती है, जिस वस्तु का मनन मुझे सूली पर चढ़ते हुए भी सत्य पर दृढ़ रखने में सहायक हो सकता है, वही वस्तु मेरे लेखे धार्मिक शिक्षण हो सकती है। 'गीतगोविन्द' इस कसौटी पर खरा नहीं उतरा और इसलिए मेरे लेखे वह पुस्तक त्याज्य ही है।''

एक बात सदैव ध्यान में रहनी चाहिए कि गाँधी बहुत कुछ सूत्र रूप में कह जाते थे। 'गीतगोविन्द' के संबंध में भी उन्होंने अपनी राय सूत्र रूप में ही रखी है। उन्होंने खुल कर यह नहीं कहा कि श्रृंगार-रस का गागर होने के कारण 'गीतगोविन्द' ग्राह्य नहीं हो सका, किन्तु अपने जिसे मानदंड का उन्होंने जिक्र किया है, उससे सिद्ध यही होता है कि वे राग-द्वेष को नरम बनाने, निर्विकार बनाने एवं प्राणोत्सर्ग के साथ सत्य पालन की दृढ़ता देने वाली रचना को ही अपने काम का समझते थे। गाँधी के इस विचार से रसिक जनों को अवश्य आपत्ति होगी, किन्तु ध्यान रहे वह समय राजनीतिक एवं सामाजिक रूपान्तरण की प्रक्रिया का था और गाँधी अपने युग संदर्भ में रस या सौंदर्य की कसौटी बदलने पर जोर दे रहे थे। ध्यातव्य है कि प्रेमचंद ने भी १९३६ में प्रगतिशील लेखक सम्मेलन के अपने अध्यक्षीय भाषण में ऐसा ही कहा था- ''हमें सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी'' और बाद में मुक्तिबोध ने भी 'जड़ीभूत सौदर्याभिरूचि' को विस्थापित कर नये सौदर्यबोध का प्रस्ताव किया था।

गाँधी जैसे श्रृंगार प्रधान साहित्य को त्याज्य मानते थे, वैसे ही महज भावुकता को प्रधानता देने वाले साहित्य को भी महत्वपूर्ण नहीं मानते थे। वे साहित्य में भावुकता के बजाय पुरुषार्थ के तेवर देखना चाहते थे। यही कारण था कि उन्होंने कृष्णभक्ति के विख्यात आचार्य बल्लभाचार्य के साहित्य को बहुत काम का नहीं पाया। इस संबंध में मगनलाल गाँधी को लिखे पत्र का यह अंश

गौरतलब है ''स्वामिनारायण और बल्लभाचार्य ने हमारे पौरूष का अपहरण किया है। उन्होंने मनुष्यों की रक्षण शक्ति-छीन ली है। स्वामिनारायण और बल्लभाचार्य का सिखाया हुआ प्रेम भावुकता है। उससे शुद्ध प्रेम पैदा नहीं हो सकता है। अहिंसा का शुद्ध लक्षण तो उन्होंने सोचा नहीं। अहिंसा चित्तवृत्तियों का निरोध है। उसका मुख्य प्रयोग मनुष्यों के आपसी संबंधों में है। इसकी गंध तक उसके साहित्य में नहीं पाई जाती।''

साहित्य को देखने एवं ग्रहण करने की दृष्टि कैसे सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है, इसका प्रमाण है गाँधी का उपरोक्त कथन। गाँधी जिस स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व कर रहे थे, वह भले ही सत्य एवं अहिंसा पर आधारित था, किन्तु उसकी सफलता के लिए भी लोगों में पौरूष- शरीर बल और आत्मबल दोनों का होना आवश्यक था। केवल भावुक प्रेम-पथिकों के सहारे यह काम नहीं हो सकता था। इसलिए उन्होंने बल्लभाचार्य के साहित्य एवं उनके द्वारा प्रणीत 'पुष्टिमार्गी भक्ति' को खास महत्व नहीं दिया। हालांकि गाँधी 'गीता' के कृष्ण के बहुत बड़े भक्त थे, लेकिन ध्यान रहे 'गीता' के कृष्ण वही नहीं हैं जो 'भागवत' या बल्लभाचार्य संप्रदाय के कृष्ण हैं। 'गीता' के कृष्ण पुरुषार्थ को जगा कर कर्म में प्रवृत्त करने वाले हैं जबकि बल्लभ-संप्रदाय के कृष्ण मुरली बजाकर गोपियों को रिझाने वाले और फिर अपने वियोग में उन्हें रुलाने वाले हैं। प्रेम के नाम पर केवल रिझाने एवं रुलाने वाले साहित्य में गाँधी की कोई दिलचस्पी नहीं थी क्योंकि न वह उनके सत्य-अहिंसा के सिद्धान्त की संगति में था, न राजनीतिक, सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप था। गाँधी की दृष्टि में ऐसा साहित्य कतई अभीष्ट नहीं था जो प्रेम के नाम पर केवल रोने-रुलाने को प्रधानता देता हो। यही कारण था कि जहाँ उन्होंने मध्यकालीन संत बल्लभाचार्य के साहित्य को महत्व नही दिया, वहीं उन्होंने हिन्दी के आधुनिक कवि मैथिलीशरण गुप्त की प्रसिद्ध काव्यकृति 'साकेत' की भी आलोचना की। अपने एक पत्र में गाँधी ने 'साकेत' की लम्बी समीक्षा की थी जिसमें उनकी एक महत्वपूर्ण आपत्ति इस बात की थी कि ''इस युग की पुस्तक में ऐसा रुदन अच्छा नहीं भाता है। उसमें वीरता को हानि पहुँचती है और इधर भक्ति को भी।''

गाँधी का स्वदेश-प्रेम, स्वदेशी आंदोलन बहुज्ञात है किन्तु उनका 'स्वदेशी' इतना तंग दायरे का नहीं था कि वे विदेश के श्रेष्ठ विचारों से परहेज करें। उन्होंने विश्व के महान चिंतकों, दार्शनिक के साथ-साथ साहित्यकारों का भी यथेष्ट अध्ययन किया था। विदेशी साहित्यकारों में रूसी साहित्यकार टॉल्सटॉय से गाँधी बहुत प्रभावित थे। उन्होंने कई अवसरों पर अपने ऊपर टॉल्सटॉय के प्रभाव का उल्लेख किया है और उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को सराहा है। मिसाल के तौर पर टॉल्सटॉय के संबंध में प्रस्तुत है गाँधी का यह कथन ''ऐसा नहीं है कि टॉल्सटॉय ने जो कहा, वह दूसरों ने न कहा हो, परन्तु उनकी भाषा में चमत्कार था और इसका कारण यह है कि उन्होंने जो कहा उसका पालन किया। गद्दी-तकियों पर बैठने वाले टॉल्सटॉय मजदूरी में जुट गये, आठ घंटे खेती का या मजदूरी का दूसरा काम उन्होंने किया। इससे यह न समझें कि उन्होंने साहित्य का कुछ काम नहीं किया। शरीर-श्रम को अपनाने के बाद से उनका साहित्य और भी अधिक शोभित हुआ।'' इस कथन से जाहिर है कि गाँधी साहित्य को सुंदर, श्रेष्ठ बनाने में श्रम की भूमिका महत्वपूर्ण मानते थे। गाँधी द्वारा अपने राजनीतिक उद्देश्य के लिए विदेशी साहित्यिक कृति के इस्तेमाल का एक बहुत अच्छा उदाहरण है, जब उन्होंने जर्मन कवि गेटे की कृति 'फाउस्ट' के एक प्रसंग का अपने लेख में विस्तार से उल्लेख किया। यह लेख १९२२ में असहयोग आंदोलन के स्थगित किये जाने के बाद लिखा गया था। उस समय गाँधी ने

अपना ध्यान रचनात्मक कार्यक्रमों पर लगा रखा था जिसमें चरखा का प्रचार महत्वपूर्ण था। पूरे देश में उपजी निराशा की मनःस्थिति से उबरने का रास्ता गाँधी को 'फाउस्ट' की एक स्त्री पात्र मार्गरेट के चरखा प्रेम में दिखाई दिया। 'यंग इंडिया' में छपे इस लम्बे लेख का यह कथन दृष्टव्य है- ''जब मैं यरवदा जेल में था तब मैंने जर्मन कवि गेटे का 'फाउस्ट' नामक नाटक दुबारा पढ़ा था। उसकी एक स्त्री-पात्र है मार्गरेट। उसका हृदय दुख और विषाद से व्याकुल रहता है। उसे चैन नहीं पड़ता, शांति नहीं मिलती। अपने क्लेश से छुटकारे का कोई उपाय नहीं सूझ पड़ता। वह चरखे का आश्रय ग्रहण करती है और चरखा मानो अपने संगीत के द्वारा उसकी व्यथा और वेदना को बाहर निकालता है। मैं इस पूरी कल्पना से बहुत प्रभावित हुआ।'' इस प्रभाव का गाँधी ने बहुत विस्तार से वर्णन किया है। तात्कालिक संदर्भ में पूरा देश कैसे अवसाद की मनःस्थिति से बाहर निकल सकता था, इसके लिए गाँधी ने चरखा चलाने के कार्य को कितना महिमामंडित किया, उसे बताने का यहाँ अवकाश नहीं है। विदेशी साहित्य में भी अपने काम की चीज खोज लेने में गाँधी की जागरुक अध्ययनशीलता का यह प्रमाण है।

गाँधी साहित्य में यथार्थ-चित्रण के समर्थक जरूर थे, किन्तु उनके लिए यथार्थ का मतलब केवल गंदगी, बुराई का वर्णन नहीं था। यही कारण था कि जब अमेरिकी लेखिका मिस मेयो की पुस्तक 'मदर इंडिया' जो भारत को बदनाम करने वाली पुस्तक थी, छपकर बहुत चर्चित हुई, तो गाँधी ने उसकी लम्बी समीक्षा लिखी जो 'यंग इंडिया' में छपी थी। इस पुस्तक के संबंध में गाँधी ने अपनी बेबाक राय इन शब्दों में रखी ''इसे पढ़कर मेरे मन में जो धारणा बनी है, वह यह कि यह एक ऐसे नाली-निरीक्षक की रिपोर्ट है, जिसे, जिस देश के बारे में उसे रिपोर्ट पेश करनी है, उस देश की तमाम नालियों को खोलकर उनकी जाँच करने के लिए या फिर खोली नालियों से कितनी बदबू आती है, इसका सुंदर और सजीव वर्णन तैयार करके पेश करने के लिए भेजा गया हो।'' साहित्यकार को अपने मन में पूर्वग्रह रखकर कोई लेखन नहीं करना चाहिए, इस पर बल देते हुए गाँधी ने उसी समीक्षा में यह लिखा ''वे इस देश में अपने मन में पहले से ही कुछ धारणाएँ बनाकर और पूर्वग्रह लेकर आई थी। यह बात उनकी पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ से प्रकट होती है।''

इस प्रकार हम देखते हैं कि गाँधी का भारतीय से लेकर विदेशी साहित्य तक गहरा अध्ययन था और साहित्यिक कृतियों की परख अपने नैतिक, आध्यात्मिक, धार्मिक एवं मानवीय मानदंडों के आधार पर करते रहे। साहित्य का महत्व उन्होंने लोक और समाज के संदर्भ में ही स्वीकारा। गाँधी कथित अर्थ में न साहित्यकार थे, न कोई साहित्यशास्त्री। पेशेवर साहित्यशास्त्रियों की तरह उन्होंने एकान्त कमरे में बैठकर न साहित्य-चिंतन किया, न किसी साहित्य-सिद्धान्त का प्रतिपादन। सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक गतिविधियों के संदर्भ में जो साहित्य उन्हें अपने प्रयोजनों के अनुकूल लगा, उसका उन्होंने उपयोग किया या फिर उसके अनुरूप साहित्यकारों से अपेक्षाएँ की।

कुल मिलाकर देखा जाए तो गाँधी का कला साहित्य संबंधी चिंतन उनके सत्याग्रह की सैद्धान्तिकी के घटकों- सत्य, अहिंसा, प्रेम, इंद्रिय-निग्रह आदि से ही निर्मित है या यूँ कहें कि उन्हें सत्याग्रह के वाहक की भूमिका में रखा। साहित्य उनके लिए बाह्य परिवर्तन की आकांक्षा पैदा करने से अधिक मनुष्य के आन्तरिक रूपान्तरण एवं अन्य के साथ तादात्मयीकरण का एक सशक्त साधन रहा। उनके सत्याग्रह में मनुष्य-मनुष्येतर सभी प्राणियों के लिए सन्निहित संशक्ति के भाव के समरूप ही उनके साहित्य संबंधी सरोकारों में व्यापकता प्रकट हुई। आजकल वर्ग, वर्ण, लिंग की चेतना के नाम पर जो साहित्यिक विमर्श चल रहे हैं, उसमें केवल मनुष्य ही है और वह भी अपनी खास पहचान के साथ जबकि गाँधी साहित्य की उस व्यापकता के पक्षधर हैं, जिसमें

समस्त सृष्टि की रक्षा तथा पतनशील संस्कृति के विनाश के भाव समाहित हैं। निस्संदेह गाँधी जी का यह चिंतन उस भारतीय काव्य-परंपरा का आधुनिक संस्करण है जिसमें बाण से बिद्ध पक्षी के आर्त्तनाद से शोक विह्वल, करुणा विगलिन हृदय से निकलने वाला श्लोक ही कविता का आदि श्लोक बन गया।

जीवन से परिपोषित आदर्शों के करमचन्द

एम.थॉमस मैथ्यु

अनुवादः उषा नायर

आज़ादी की घोषणा से पहले दिल्ली में ब्रिटिश प्रशासन और हमारे राष्ट्रीय नेताओं की बैठक हुई जिसमें सत्ता हस्तान्तरण की औपचारिकताओं पर विचार-विमर्श हो रहा था। मुद्दे बहुत ही पेचीदे थे। राष्ट्रीय आन्दोलन के भीतर भी परस्पर विरोधी आकांक्षाओं की खींचातानी चल रही थी। सब के लिए अनुकूल समीकरण की तलाश में दोनों ही पक्ष सिर खपा रहे थे। इस बीच किसी ने गाँधीजी के पास जाकर धीमी आवाज में यह कहा कि कहीं दूर से आये कुछ गरीब मज़दूर उनसे मिलने की प्रतीक्षा में बाहर खड़े हैं। यह सुनते ही गाँधीजी अपने आसन से उठ खड़े हुए और बाहर चले गये। वहाँ की बातचीत की गंभीरता उन्हें रोक न सकी। उन गरीबों की दुहाइयों पर ध्यान देना उन्हें ज़्यादा जरूरी लगा।

गाँधीजी का इस प्रकार जाना सब की राय में पूर्णतः अनुचित था। इस मामले में कांग्रेस के नेताओं और ब्रिटिश प्रशासन के ऊँचे ओहदों की शान बढ़ाने वालों के बीच कोई मतभेद नहीं था। उन्होंने एक ही सुर में अपनी यह राय प्रकट भी की, लेकिन विचार विमर्श को आगे बढ़ाने के लिए गाँधीजी का लौटना जरूरी था। इस बीच खाली समय में उन्होंने मिलकर गाँधीजी के अनुचित व्यवहार की भरसक आलोचना की।

थोड़ी देर बाद गाँधीजी लौट आये। लोगों ने अपनी नाराज़गी छिपाने की कोशिश नहीं की। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि गरीब लोगों के उस समूह की समस्याओं को सुनने और सुलझाने के लिए गाँधीजी के चले जाने से यह प्रमाणित होता है कि वे राजनीति संबन्धी उनके गंभीर विचारों को तुच्छ मानते हैं। कांग्रेस के नेताओं ने भी गाँधीजी का पक्ष नहीं लिया। किन्तु गाँधीजी क्रोधित नहीं हुए। उन्होंने धीमे किन्तु दृढ़ स्वर में अपनी बात कही- ''हम उन्हीं की आज़ादी के संबंध में यहाँ विचार-विमर्श कर रहे हैं।''

ऐसे थे गाँधीजी। उनके व्यक्तित्व, उनके स्वभाव और उनकी निष्ठा का असंदिग्ध प्रकाशन उनके हर कार्य और व्यवहार में सदैव होता है। अपनी पसंद-नापसंद को छिपाकर औपचारिकताओं को निभाना उनकी रीति नहीं थी। एक बार कांग्रेस की एक बैठक के दौरान एम. एन.रॉय वहाँ पहुँचे। उन दिनों अंग्रेजी प्रशासन ने आदेश जारी किया था कि देखते ही उन्हें गिरफ्तार कर लिया जाए। इन्हीं हालातों में रॉय वहाँ पहुँचे थे। पंडित नेहरु ने उनका सादर स्वागत किया। उन्होंने गाँधीजी से मिलने का निर्देश भी दिया किंतु रॉय राज़ी नहीं हुए। उनका सोचना था कि यदि पुलिस वालों ने पूछ-ताछ की तो गाँधीजी यह अवश्य ही बता देंगे कि राय वहाँ हैं। उनका तात्पर्य यह था कि गाँधीजी तो किसी भी हाल में झूठ नहीं बोलेंगे। परिणाम चाहे कितने ही भीषण क्यों न हो वे अपनी सत्यनिष्ठा पर अटल रहेंगे, यही तो उनकी खासियत थी।

सत्य कभी कूटनीति या प्रिय-अप्रिय पर आश्रित नहीं होता। इसलिये उसकी प्रकृति प्रायः रुखी होती है। कड़वा सत्य सुनना किसे पसंद है?यही कारण है कि हर सत्यनिष्ठ व्यक्ति को दूसरों की नाराज़गी का सामना करना पड़ता है। गाँधीजी के स्थान पर यदि कोई और होता, जबकि समस्त भारतीयों ने अपनी उम्मीदों और इच्छाओं के उज्ज्वल प्रतीक के रूप में जिस गाँधीजी को स्वीकार किया था, उनके स्थान पर यदि कोई और होता तो स्वतंत्रता आंदोलन के बीच ही नेताओं की कतार से बहिष्कृत हो जाता। किन्तु गाँधीजी तब तक लोगों के लिये पूजनीय बन चुके थे। भारतीय जनता के तो वे आराधना-पात्र थे। इस जन-भावना का विरोध करना अपने पाँव पर कुल्हाड़ी मारने जैसा ही था। इस विचार से अधिकांश नेतागण उन्हें बर्दाश्त करते रहे। स्वातंत्र्योत्तर भारत में गाँधीजी के विचारों और सिद्धान्तों को पूर्णतः अव्यवहारिक घोषित करके उन्होंने अपना प्रतिशोध पूरा किया। ऐसा नहीं है कि किसी ने खुलकर उनका तिरस्कार किया क्योंकि विरोधियों में न तो इतनी हिम्मत थी और न सत्यनिष्ठा। फलतः आज़ाद भारत ने उन्हें आराध्यमूर्ति का दर्जा दे दिया और राजघाट की ज्वाला को बुझने नहीं दिया। दूसरी ओर, क्या हम अपनी योजनाओं के किसी भी स्तर पर गाँधीवादी अर्थशास्त्र का कोई प्रभाव देख पाते हैं?क्या किसी भी राजनीतिक दल ने स्वेच्छा से यह निर्णय लिया है कि जन-प्रतिनिधित्व वही करेगा जो चरित्रवान अथवा सत्यनिष्ठा है?आज कथनी और करनी का भेद भी सर्वस्वीकृत हो चुका है। हमने यह निर्णय लिया कि भारत के करन्सी नोटों की शोभा बढ़ाने के लिए गाँधी-चित्र का उपयोग होगा; उसी नोट का इस्तेमाल हम निर्लज्ज होकर रिश्वत और काला बाज़ारी के लिये करते हैं। वस्तुतः सत्याग्रह स्वतंत्र भारत में सबसे बड़ा मज़ाक बन गया है।

गाँधीजी ने जब स्वतंत्रता संग्राम की बागडोर सँभाली तो उन्हें इस विषय में तनिक भी संदेह नहीं था कि स्वतंत्रता किसलिए और किसके लिए चाहिए। वे राजनीतिक स्वतंत्रता के सीमित लक्ष्य के प्रति आकर्षित नहीं थे। स्वतंत्रता की उनकी परिकल्पना अत्यंत गहन थी जो जीवन के प्रत्येक पहलू का संस्पर्श करती थी। उन्हें यह गलतफहमी नहीं थी कि अंग्रेजों के सत्ता छोड़ने से और बदले में कुछ देशवासियों के सत्ता सँभालने मात्र से हम स्वतंत्र हो जायेंगे। वे भली-भाँति समझते थे कि भारत के सबसे दरिद्र जन की स्वतंत्रता ही सच्चे अर्थों में भारत की स्वतंत्रता है। इसी पृष्ठभूमि में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और स्वतंत्रता संग्राम की सभी गतिविधियों को समझा जा सकता है। तभी तो स्वतंत्रता सार्थक हो सकेगी। खादी को वे भारतीय ग्रामीणों की अस्मिता का प्रतीक मानते थे।

उन सुख-सुविधाओं के उपभोग को गाँधीजी पाप मानते थे जो भारत के सबसे गरीब नागरिक को लभ्य नहीं हैं। इसीलिये उन्होंने ऐसे वस्त्र पहने जिनके कारण 'अर्धनग्न फकीर'

कहकर उनका परिहास किया गया। तात्पर्य यह है कि गाँधीजी का स्वदेश-प्रेम वाइसराय भवन के आडंबरपूर्ण जीवन के प्रति ईर्ष्याभाव से प्रेरित नहीं था। राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र और जातिव्यवस्था की पृष्ठभूमि में उन्होंने दरिद्र ग्रामीणों की जीवनचर्या को अपने जीवन में अपनाया और उसका सदैव समर्थन भी किया। धर्महीन राजनीति का उद्देश्य सत्ता हड़पना होता है। गाँधीजी ने गीता के अनासक्त योग को रेखांकित करके राजनीति की नवीन व्याख्या की है। कुछ लोग बड़े उदासीन भाव से कह देते हैं कि गाँधीजी ने धर्म और राजनीति को घुला-मिला दिया था। उनके लिए सत्ता हासिल करना ही राजनीति का लक्ष्य है। इसलिए गाँधीजी के जीवन और विचारों से प्रतिफलित आदर्श उन्हें बेचैन कर देते हैं। यह बेचैनी ही उनके कथन का आधार है। गाँधीजी उदासीन भाव से न कुछ कहते थे और न करते थे। किसी शब्द को तोड़ मरोड़कर इच्छानुसार किस तरह व्याख्यायित किया जा सकता है, इसे भली-भाँति समझकर ही वे बोलते थे। प्रत्येक कदम रखते समय उनके अंतर्मन में अपने प्राप्य लक्ष्य से संबंधित दर्शन स्पष्ट प्रतिफलित होता था।

जीवन में वचन और कर्म का ऐसा तालमेल अन्यत्र दुर्लभ है। कभी ईसा मसीह ने यहूदी गुरुओं के संबंध में अपने शिष्यों से कहा था- उनकी बातों पर ध्यान दो। उनके जीवन का अनुसरण मत करो। आजकल ज्यादातर नेता इसी सामान्य नियम का पालन करना ही पसंद करते हैं। गाँधीजी इनसे पृथक हैं। उन्होंने निशंक होकर पूरे आत्मविश्वास के साथ यह कहा था कि मेरा जीवन ही मेरा संदेश है। आदर्शों का जीवन से जब सामंजस्य स्थापित नहीं हो पाता तो आदर्शों का अनाथत्व स्पष्ट हो जाता है। गाँधीजी में वे आदर्श सनाथ हैं। वे समय-समय पर अपने आप को परखते थे, अपने कर्मों को जाँचते थे। अपनी त्रुटियों को स्वयं पहचानकर उन्हें वे स्वीकार करते थे। यह स्वीकृति महज औपचारिकता नहीं थी। उस स्वीकृति में त्रुटि को पुनः कभी भी न दोहराने का दृढ़ संकल्प था। उनका मत था कि सत्य को कवच की तरह धारण करने वाला ही सबसे शक्तिशाली होता है। हिंसा को वे आत्महनन मानते थे इसलिये अहिंसा पर वे अडिग रहे।

इतिहास में वापसी

धर्म-व्यवस्थाओं की द्वन्द्वात्मकता और विश्व-शांति के कारगर उपायों की खोज

(यशपाल के रचना-कर्म का उत्तर-काल)

निर्मला जैन

कथा-साहित्य के इतिहास में, यशपाल की ख्याति प्रेमचंद के बाद यथार्थवादी परंपरा के सबसे यशस्वी रचनाकार के रूप में हुई। उन्होंने अपने रचनाक्रम के आरंभिक दौर में ही हर वर्ग के आलोचक और रचनाकार का ध्यान आकर्षित किया। उस समय प्रेमचंद मार्का यथार्थवाद अपनी चरम परिणति पर पहुँच चुका था। यशपाल ने वहाँ से उसे नया मोड़ देकर एक नयी विचारधारात्मक पहचान दी। आलोचकों ने उस पर 'समाजवादी यथार्थवाद' का 'लेबल' चस्पा कर दिया और खुद यशपाल ने भी अपनी इसी छवि को स्थापित करने में मदद की।

लम्बे समय तक यशपाल की रचनाओं पर विचार मार्क्सवादी विचारधारा के इर्द-गिर्द केन्द्रित होकर रह गया। गैर मार्क्सवादी उन्हें इस बात का श्रेय दे रहे थे कि उन्होंने 'हिन्दी के लिटरेरी एस्टेब्लिशमेंट को साम्यवादी विचारधारात्मक चुनौती दी'। साथ ही यह भी कि जब 'प्रेमचंद सहित हिन्दी के सभी लेखक दिशाहीनता की अंधी गली में प्रवेश कर चुके थे' तब उन्होंने रचनात्मक साहित्य में 'सबसे पहले मार्क्सवाद की खिड़की खोली'। विडम्बना यह थी कि ठीक इसी समय मार्क्सवादी आलोचक उनपर साम्यवादी विचारधारा की अधूरी समझ या उस समझ के छद्म का आरोप लगा रहे थे या फिर उनके नारी-चित्रों में अश्लीलता खोजकर उन्हें जैनेन्द्र और अज्ञेय की परंपरा का कथाकार घोषित कर रहे थे। इनमें सबसे बुलंद आवाज़ रामविलास शर्मा की थी।

एक बात में सबमें समानता थी। यशपाल की कृतियों पर राजनीतिक विचारधारात्मक नज़रिये से विचार अधिक हो रहा था, साहित्यिक दृष्टि से कम। इसका एक कारण शायद उनके आचार और विचार के बीच पूरी संगति भी थी। भगतसिंह और सुखदेव जैसे क्रांतिकारियों के सम्पर्क में आने के बाद अठारह वर्ष की उम्र से ही वे क्रान्तिकारी कार्यक्रमों में भाग लेने लगे।

एकाधिक बार गिरफ़्तार हुए, सज़ा काटी। साथ ही, जेल में अध्ययन के साथ-साथ रचना करने का सिलसिला भी शुरु हो गया। आरंभिक दौर में मार्क्सवादी विचारधारा से प्रेरित होकर ही उन्होंने 'दादा कॉमेरड', 'देशद्रोही' और 'पार्टी कॉमेरड' जैसे उपन्यास तो लिखे ही, लगे हाथों 'गाँधीवाद की शव-परीक्षा' भी कर डाली। अपने मार्क्सवादी आलोचकों पर उन्होंने पलटकर संकीर्णतावादी होने का आरोप भी लगाया। यह बात अलग है कि वे खुद भी 'साहित्य के आवरण में विचारों को पेश करने' को लेखकीय लक्ष्य भी मानते थे और 'अपने अभिप्राय को स्पष्ट कर देने का संतोष-लाभ करने का ज़रिया भी।' अपने उपन्यासों की भूमिकाओं में उन्होंने अपनी सफाई भी पेश की।

रचना-कर्म के लिए राजनीति की समझ को वे ज़रूरी कारक के रूप में देखते थे। उनका कहना था कि 'राजनीति संपर्क छोड़ देने का मतलब है, अपने देश और समाज की अवस्था और भविष्य से कोई नाता न रखना'। इस सोच का नतीजा यह हुआ कि समकालीन राजनीति उनकी आरंभिक रचनाओं पर कुछ इस तरह हावी हो गई कि पाठकों को वे 'लिख-लिख कर दूसरों को कम्यूनिस्ट बनाने का ज़रिया' यानी मार्क्सवाद के प्रचार का माध्यम प्रतीत होने लगा।

उनकी रचना-यात्रा का यह पहला पड़ाव था। जिसके दौरान उन्होंने गाँधीवाद के अहिंसक और क्रांतिकारियों के हिंसात्मक तरीकों के बीच द्वन्द्वका खाका खींचा, और 'देशद्रोही' और 'पार्टी कॉमरेड' में कम्युनिस्ट आंदोलन और पार्टी की सार्थकता का बखन किया। 'गाँधीवाद' उन्हें क्रांतिकारी चेतना और शक्तियों के उभार में बाधक मालमू होता था, और गाँधी भारतीय क्रांति के खलनायक दिखायी पड़ते थे। पर जल्दी ही राजनीति की इस एकाक्षी समझ में परिवर्तन आया। अन्तरराष्ट्रीय और राष्ट्रीय घटनाओं के संदर्भ में उन्होंने नयी समझ विकसित की। उन्हें एहसास होने लगा कि राजनीति और विचारधारा ऐसे देशकालबद्ध, निरपेक्ष विषय नहीं हैं जिन्हें उनकी तात्कालिकता में पूरी तरह समझा जा सके। उनका पूरा और सही आकलन अतीत संबद्धता और भविष्य की संभाव्यता को दृष्टि में रखकर ही किया जा सकता है। इस नयी समझ से अतीत और अनागत दोनों के बारे में उनके दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया, उसका प्रतिफलन उनकी उत्तरकालीन रचनाओं में स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। विशेषरूप से उनके उन उपन्यासों में जिनमें इतिहास के रास्ते उन्होंने वर्तमान जीवन की चिंताओं और सरोकारों को लक्ष्य बनाया। 'दिव्या' और 'अमिता' इस दृष्टि से उनकी महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। जिनमें ऐतिहासिक सूत्रों की प्रामाणिकता और अतीतता से कहीं ज़्यादा उनकी कालातीतता और वर्तमानता उन्हें नयी अर्थवत्ता प्रदान करती दिखायी पड़ती है। इतिहास में यशपाल की यह वापसी, अतीत से बहुत कुछ लिए-दिए वर्तमान में लौटने का उपक्रम है, जड़ीभूत तथ्यों का आकलन नहीं।

इतिहास के बारे में अपने तथ्यात्मक ज्ञान की कमी के बारे में यशपाल पूरी तरह सजग थे। फिर भी वर्तमान में अतीत के हस्तक्षेप का आग्रह उन्होंने इसलिए किया कि 'अतीत के अपने सामर्थ्य और परिस्थितियों के सुलझाव के अपने प्रयत्नों के परिचय से जाति वर्तमान और भविष्य के सुलझाव और रचना के लिए निर्देश पाती है।' वर्तमान समाज का इकहरा राजनीतिक परिदृश्य या स्त्री-पुरुष संबंधों से जुड़े नैतिक सवाल, उन्हें पूरी जटिलता में विचारणीय मालूम होने लगे। अपने कथानकों को उन्होंने ऐसे बिंदुओं पर केन्द्रित करना आरंभ किया जहाँ वर्तमान के प्रश्न, अतीत के संभावित उत्तरों के सहारे भविष्य के लिए संकेत प्रस्तावित करते दिखाई पड़ें। 'सुलझाव और रचनात्मक निर्देश की संभावनाओं की तलाश में, इतिहास को प्रस्थान बिन्दु बनाकर उन्होंने काल्पनिक कथानक गढ़े। वे जानते थे कि समाज में राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक संस्थाएँ और

व्यवस्थाएँ, एक दूसरे से टकराती, एक दूसरे को पुष्ट या नष्ट करती, तरह-तरह के प्रश्न और संभावित समाधान प्रस्तावित करती चलती है। इस सबके बीच यशपाल सार रूप में ऐसे मनुष्य को पाने का प्रयास करते हैं जो 'भोक्ता नहीं कर्ता है.. उससे ऊपर यदि कुछ है तो उसका अपना विश्वास और विधान। इस विश्वास और स्वरचित विधान के सामने वह कहीं बहुत विवश भी है, पर साथ ही उसे बदलने में समर्थ भी।' उनका सरोकार न ऐतिहासिक है न धार्मिक वह मूलतः मानवीय है। उनके उपन्यास 'दिव्या' और 'अमिता' इसी मानसिक बनावट से प्रेरित रचनाएँ हैं।

इतिहास के जिस दौर में 'दिव्या' का कथानक विन्यस्त है उसके बारे में ऐतिहासिक प्रमाण क्या कहते हैं, यह अलग बात है, पर यशपाल के मुख्य सरोकारों में राजनीतिक उलट-फेर और सामाजिक जीवन में धर्म-संस्थानों की भूमिका एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। स्त्री-विमर्श उसका एक और महत्वपूर्ण आयाम है जिसकी पृष्ठभूमि में राजनीति और धर्म दोनों की निर्णायक भूमिका है।

यशपाल परम्परागत अर्थ में धार्मिक व्यक्ति नहीं थे- न ईश्वरवादी न आत्मवादी। देवताओं के विधान को भी वे केवल विश्वास और अनुमान का विषय मानते थे और यदि अनुमान 'अनुभव द्वारा प्रमाणित नहीं तो वह संदिग्ध है।' धर्म-संस्थानों का उनका कल्पना-चित्र, 'दिव्या' के आरंभ में ही धर्मस्थ के आस्थान के वर्णन में दिखाई पड़ता है। वहाँ वैदिक कर्मकांड, नासदीयवाद और तथागत के अनात्य कर्मवाद का सह-अस्तित्व है। वे यवन-आचार्य प्लातो के तर्क-प्राप्य जगतेतर सत्य के विमर्श से लेकर स्थूल प्रत्यक्ष इहलोक को सत्य मानने वाले लोकायत के समर्थक चारवाक् मारिश को भी उदारतावश स्थान देने को प्रस्तुत हैं। यूँ तो स्थिति सर्वधर्मसमभाव की है, पर धर्म की इस उदार व्यवस्था के बीच तथागत के प्रति विशेष आकर्षण उनकी समदर्शिता के कारण हैं।

समाज, राजनीति और न्याय व्यवस्था में धर्मास्थानों के हस्तक्षेप के लगभग निर्बाध अधिकार के बारे में यशपाल का यह कथन कितना सार्थक और आज भी प्रासंगिक हैः 'धर्मास्थान कोई स्वयंभू और स्वतंत्र वस्तु नहीं है, वह केवल समाज की भावना और व्यवस्था की जिह्वा है'। ऐसी स्थिति में न्याय-व्यवस्था में धर्म की भूमिका कितनी विश्वसनीय हो सकती है, इसका अंदाज़ा पृथुसेन की इस गुहार से लगाया जा सकता हैः 'भद्रे मैं वर्ण का न्याय नहीं, धर्म का न्याय चाहता हूँ। गण-परिषद् स्वार्थों का संघर्ष है, धर्मास्थान न्याय का आसन है।' जिस धर्मास्थान के न्याय में पृथुसेन की आस्था है, वह विद्या और संस्कृति का केन्द्र है। 'उस प्रासाद में श्रुति-स्मृति, दर्शन, न्याय और तर्क का मंथन, वर्णाश्रम नीति के पंडितों, यवन दार्शनिकों और बौद्ध भिक्षुओं द्वारा मत-निर्णय और गोष्ठी-सुख के लिए भी निरंतर होता रहता था।' जिन पंडित देव शर्मा की बुद्धि का आदर करते हुए उन्हें धर्मस्थ का पद सौंपा गया था, वे वर्णाश्रम धर्म की नीति, प्रथा और व्यवस्था में यवन पद्धति का संपुट देकर अनेक वर्ष तक न्याय-व्यवस्था करते रहे। उसके बाद प्रचंड प्रतापी मिलिन्द की तथागत के धर्मचक्र में आस्था हो जाने पर उन्हीं महापंडित ने न्याय को सर्वभूत दया और मानवता की भावना से अनुप्राणित होते देखा। धर्म और न्याय का ऐसा गठबंधन ही आदर्श है जिसमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन संभव हो। परंतु जब धर्म-सत्ता वर्चस्व की लालसा से संग्रथित होकर शास्ता की भूमिका अख्तियार कर ले तो न उदारता बचती है न मनुष्यता। इतिहास साक्षी है कि मनुष्य और उसके वंश की स्थिति में परिवर्तन आने पर उसकी सामाजिक स्थिति में परिवर्तन आता है। पर स्वार्थ के लिए वर्ण-व्यवस्था की जकड़ बनाए रखकर अपना हित साधने वाले पंडित समुदाय को यह उदार व्यवस्था रास नहीं आती। मौर्यवंशी चंद्रगुप्त का मंत्रित्व विप्रश्रेष्ठ चाणक्य स्वीकर कर सकते थे पर यवन मिलिन्द के धर्मचक्र में 'कम्मणा भवती बाम्मणो' कहने वालों में पंडित विष्णु शर्मा को 'नीचों का अहंकार' दिखायी पड़ता है। उनके

अनुसार 'ब्राह्मण को जिसने देवत्व दिया है, केवल वही उसे अपदस्थ भी कर सकता है। मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता'।

कुल मिलाकर यह लड़ाई धर्म की नहीं, वर्चस्व की, सत्ता की लड़ाई है। एक ओर यज्ञ की शक्ति के द्वारा वर्णाश्रम के पुनरुद्धार के लिए व्यग्र वर्णाश्रयी समाज है और दूसरी ओर धर्म-चक्र के अनुयायी शतशः भिक्षु जो हिंसा के पाप की ओर भटकते हुए नगर-समाज के उद्‌बोधन के लिए वीथियों में सूत्र-पाठ द्वारा धर्म का संदेश देते घूम रहे हैंः 'चरैवेति भिक्खवे बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय'। दोनों की नित्य की प्रतिद्वन्द्विता और इनके बीच श्रान्ति और विरक्ति में फँसे जन-समाज की दास्तान बहुत लम्बी है।

यशपाल ने बड़ी वस्तुनिष्ठ दृष्टि से दोनों धर्म-व्यवस्थाओं की द्वन्द्वात्मकता का विश्लेषण किया है। अभिधर्म की 'कम्मणो द्विज भवति' ने कर्मानुसारी वर्ण-निर्धारण की छूट तो दी पर लगे हाथों कर्म-विमुखता का मार्ग भी खोल दिया। जो दास ऋृण में असमर्थ होने के कारण द्विज वर्ग और सम्पन्न श्रेणी के लोगों के हाथ बिक गए थे उन्होंने 'दासत्व और स्वतंत्र जीवन के संघर्ष दोनों को ही कठिन जानकर, तथागत के धर्म-चक्र में शरण ले काषाय-चीवर और भिक्षा-पात्र लेकर शान्ति प्राप्त की।' यह एक ऐसा अन्तर्विरोध है जिसका कोई समाधान यशपाल को नहीं दिखाई पड़ता।

एक अन्तर्विरोध और भी है, जिसका उत्तर दिव्या को नहीं मिलता। सुख और दुःख की संबद्धता की व्याख्या उसने वैद्यवर स्थविर चीवुक के मुख से सुनी थी। निराशा के क्षणों में उसे उन शब्दों की स्मृति हो आती हैः 'सुख और दुःख अन्योन्याश्रय हैं। उनका अस्तित्व केवल विचार और अनुभूति के विश्वास में है। इच्छा ही सर्वावस्था में दुःख का मूल है। एक इच्छा की पूर्ति दूसरी इच्छा को जन्म देती है। वास्तविक सुख इच्छा की पूर्ति में नहीं, इच्छा से निवृत्ति मार्ग में है।' उसके जैसे सामान्य सांसारिक के लिए व्यवहार में यह साधना सहज नहीं है। बौद्ध श्रमणों की वाणी कि 'मनुष्य अपने कर्म से ही दुःख पाता है।' दिव्या के मन को उद्विग्न कर प्रश्नाकुलता से भर देती हैः 'परन्तु मेरे बच्चे का क्या कर्म है?अभी तो वह उत्पन्न ही हुआ है। उत्पन्न होने से पूर्व ही उसका कर्म-फल फूट गया?वह यह भी नहीं जानता कि किस कर्म का दण्ड वह भोग रहा है?हे देवता, अपना अपराध या दुष्कर्म जाने बिना यह अबोध बालक दुष्कर्म से बचे का निश्चय कैसे करे?' उसके मन में एक प्रश्न और हैः 'क्या कर्म-फल देने वाला द्विज समाज ही है?'

श्रमण मत में दुःख से मुक्ति का एकमात्र मार्ग है- अपरिग्रह, वैराग्य। कर्म और जीवन केवल दुख की श्रृंखला है जिसके बीच सुख केवल अस्थायी अनुभूति है। पर वैराग्य में सुख का विधान केवल दुखियों के लिए है क्योंकि संसार केवल शक्तिशालियों के लिए है। यहाँ भी प्रश्न वर्चस्व का है। शक्तिशाली और शक्तिहीन के बीच अंतर का। इसीलिए भिक्षाटन के लिए विचरते भिक्षु केवल पीड़ितों का ही आह्‌वान करते हैंः 'दुःख से पीड़ित मनुष्यों, तथागत की शरण आओ! धर्म की शरण आओ! संघ की शरण आओ! वही कृपा-मूर्ति तुम्हारे संतत संताप को दूर करेंगे।'' यह निरंतर आह्‌वान 'दिव्या' को दुःख से निवृत्ति का एकमात्र मार्ग प्रतीत भी होने लगता है। पर मोह-युक्त होकर चेरी धर्म ग्रहण करने के लिए बिहार में प्रस्तुत दिव्या के लिए संकट फिर उपस्थित है। संसार के सभी दुखियों को भेद-भाव मुक्त दृष्टि से बिहार में शरण देने वाली श्रमण-संस्कृति में स्त्री के लिए अलग व्यवस्था है। स्थविर यह व्यवस्था धर्म के साक्ष्य पर देते हैं। 'धर्म के नियमानुसार स्त्री के अभिभावक की अनुमति बिना संघ स्त्री को शरण नहीं दे सकता।' तथागत द्वारा अम्बपाली को शरण देने की घटना का हवाला देने पर स्थविर का उत्तर हैः 'वेश्या

स्वतंत्र नारी है देवी।' सबमें अभेद दृष्टि रखने वाली संघ-व्यवस्था में वेश्या के लिए स्थान हो सकता है प्रताड़ित, दुःखी कुल नारी के लिए नहीं। स्थविर के इस निर्णायक उत्तर पर कोई बहस संभव नहीं क्योंकि इसे सुनाकर वे तत्काल बिहार के द्वार मूँद देते हैं। बाद की घटनाएँ, नारी के प्रति यशपाल के दृष्टिकोण का खुलासा करती हैं। वेश्या वृत्ति को अपनाने का फैसला दिव्या विवशता के कारण नहीं लेती। स्वतंत्रता यानि आत्मनिर्णय का अधिकार अब उसके लिए एक मूल्य है। तत्त्व-चिंतन पर लम्बे विमर्श के बाद वह मारिश द्वारा सहज जीवन जीने के प्रस्ताव को स्वीकार करती है। इस चयन में एक ओर वर्ण-व्यवस्था की अगतिशील किंतु अवसरवादी नीतियों का तिरस्कार है और दूसरी ओर नारी के प्रति संघ की भेद-दृष्टि की अवमानना। विडम्बना यह है कि पहली व्यवस्था उसे द्विज-कन्या होने के कारण वेश्या बनी रहने तक की इजाज़त नहीं देती और दूसरी से चोट खाई नारी का प्रश्न हैः 'भिक्षु के धर्म में नारी का क्या स्थान है?' भिक्षु का उत्तर हैः 'देवी, भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है।' संघ द्वारा प्रताड़ित नारी का प्रत्युत्तर हैः 'नारी का धर्म निर्वाण नहीं, सृष्टि है। भिक्षु उसे अपने मार्ग पर जाने दें।'

सृष्टि को नारी-धर्म मानने वाली दिव्या मारिश द्वारा 'सन्तति की परम्परा के रूप में मानव की अमरता देने के प्रस्ताव' को यदि स्वीकार करती है तो इसलिए कि वह पहले अपने पुरुषत्व का अर्पण करके उसके नारीत्व की कामना करता है। उसमें पुरुष के द्वारा सामाजिक प्रतिष्ठा या आश्रय दान का दंभ नहीं, बराबरी के स्तर पर आदान-प्रदान का प्रस्ताव है। दिव्या का आत्मनिर्णय आश्रिता नहीं, सहचरी होने के पक्ष में है।

'अमिता' की रचना यशपाल ने बहुत बाद में की। इस बीच राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर बहुत कुछ घट चुका था। विश्व-शांति की इच्छुक मानवता भावी युद्धों की आशंका से त्रस्त थी। आश्चर्य नहीं कि यह उपन्यास भारत के प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरु को, विश्व-शांति के लिए किए गए प्रयत्नों के प्रति सराहना के भाव से समर्पित किया गया है। यह समर्पण इसकी रचना के पीछे लेखकीय सरोकार पर टिप्पणी है। यशपाल एक बार फिर इतिहास की ओर मुड़ते हैं। वहाँ एक पराक्रमी सम्राट के विजयी होने के उपरांत युद्ध से विरत हो जाने का वृत्तांत है जिसकी पुष्टि उसके शिलालेखों से होती है। उपन्यास की समस्या है संतोष और शांति की खोज। समाधान का संकेत आरंभ में ही कर दिया गया हैः 'परिग्रह में संतोष और शांति नहीं है।' कलिंग की महारानी का अपना जीवन इसका उदाहरण हैः उन्होंने 'संसार को दुखमय पाकर, शांति की कामना से संसार से विरक्त हो, संसार में रहने वाले तथागत बुद्ध का मार्ग स्वीकार कर लिया था।' युवराज्ञी अमिता के लिए भी उनकी यही प्रार्थना हैः 'धर्म में तेरी आस्था और प्रवृत्ति रहे। तू सदा बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, बहुजन के परित्राण के लिए यत्न करे। तू किसी से छीनना मत, तू किसी को डराना मत, तू किसी को मारना मत।' यह अभिधर्म का आदेश है। इसलिए महासेनापति को आदेश दिया जाता हैः 'कलिंग में हिंसा नहीं होगी, अभिधर्म का पालन होगा।'

यहाँ टकराहट राजसत्ता और धर्मसत्ता के बीच है। संघ और विहार केवल परलोक की चिंता न कर इस लोक की व्यवस्था भी करना चाहते हैं। आचार्य भद्रकीर्ति की चिंता है कि 'महारानी का धर्म-विश्वास, राज्यधर्म, अनुशासन और राज्य की रक्षा में बाधा बनेगा तो नित्य संकट आएगा।' चैत्यों और विहारों के प्रति महारानी का मनोभाव धार्मिक आस्थाओं से प्रेरित है और महामात्य की चिंता व्यावहारिक राजनीतिक संकटों से। महारानी को राजनीतिक संकट का निदान अनासक्ति और निर्वाण में दिखायी पड़ता है।

सम्राट अशोक के आक्रमण की आशंका से राजसत्ता, धर्मसत्ता और अर्थ-सत्ता सबके सामने अस्तित्व का संकट और वर्चस्व का प्रश्न महत्वपूर्ण हो जाता है और जनहित की चिंता पीछे पड़ जाती है। आपात स्थितियों में इनके बीच संबंधों का स्वरूप निजी स्वार्थ और लाभ की चिंता से तय होता है। नगर का सेट्ठी वर्ग धर्मादय के नाम से द्रव्य के बल पर संघ और विहार पर आधिपत्य करने और व्यापारिक लाभ उठाने की चिंता में मंत्रणा में व्यस्त है। धर्म, राजसत्ता से संबंध बनाने का माध्यम हो गया है। महारानी के धर्मानुराग और भगवान तथागत के उपदेशों का, गृहस्थ जनों पर कुछ अलग ढंग से प्रभाव पड़ रहा था। उनमें ऐसे लोग भी थे जो संसार के संघर्ष और गृहस्थ को दुःखमय और सन्यास को सुखमय और चिन्तारहित समझ कर भिक्षु हो गए थे।

धर्म की प्रतिष्ठा या ह्रास राजनीतिक षड़यंत्रों से तय होने लगा था। ब्राह्मण और बौद्ध-धर्म के बीच द्वन्द्वआस्था का विषय उतना नहीं रह गया था जितना राजनीतिक उठा-पटक का ज़रिया। कलिंग की जनता के बीच धर्म की प्रतिष्ठा के स्थान पर सहसा धर्म का ह्रास क्यों होने लगा?स्थविर असंद को अचानक कारण समझ में आ गयाः 'यह सद्धर्म विरोध महामात्य सुकंठ का धर्म-विरोध है। जन-समूह को भ्रम में डालने के लिए ब्राह्मणों का छल है।'

कुल मिलाकर एक ऐसा परिदृश्य बनता है जिसमें धर्म, राजनीति और अर्थ सत्ताएँ- सब भारी उथल-पुथल के बीच सक्रिय हैं। ब्राह्मण धर्म की हिंसा, तथागत का पलायन मार्ग, अशोक के आक्रमण के साए में महारानी की उदासीनता और चारों ओर व्याप्त चिंता और आशंका का वातावरण। इस कथानक के माध्यम से यशपाल दोनों धर्म-पद्धतियों की मीमांसा करते हैं। उन्हें ब्राह्मण-धर्म की हिंसा, पशुबलि और धन-लिप्सा जितनी आलोचना का विषय लगती है, उतना ही महारानी के हृदय में किसी चमत्कार-दर्शन द्वारा सिद्धि-लाभ की लालसा परमयोगी महास्थविर जीवक में आकाश-मार्ग में विचरण की सिद्धि का प्रचार। एक कर्मकांड के विरोध में दूसरा अंधविश्वास राजनीति में धर्मास्थानों के हस्तक्षेप का दुष्परिणाम परस्पर विरोधी राज्यादेशों से प्रजा के हतबुद्धि हो जाने की आशंका। अनिश्चय की स्थिति में उद्दंड व्यवहार की संभावना किसी भी पक्ष से हो सकती है। हिंसा, पशुबलि और अपमान से त्रस्त होकर, अन्यथा शांतिप्रिय भिक्षु भी बलि-निषेध, संघ और भिक्षुओं के आदर-मान की पुनः स्थापना के राज्यादेश की नयी घोषणा सुनकर उद्दंड व्यवहार करने लगे थे। सत्ता-मद किसी में भी उन्माद भरकर उत्पात के लिए प्रेरित कर सकता है। सवाल गठबंधन का है। नगरपाल की चिंता यही है किः 'भिक्षुओं को राज्यादेश से पूज्य मानकर, उनके उत्पात का अनुशासन न किया जायेगा, प्रजा को सिर झुकाकर उत्पात सहना पड़ेगा तो न्याय के प्रति जन की आस्था न रहेगी।' महत्वपूर्ण है न्याय के प्रति जन की आस्था को बनाए रखने की समस्या। आस्था का गहरा संबंध धर्म-भावना से होता है। पर धर्म की प्रतिष्ठा का एक दूसरा रूप भी संभव है जिसमें 'बलि के पशुओं की रक्षा के लिए और पशुओं की बलि के अधिकार के लिए मनुष्य-मनुष्य की बलि करने लगे।' इतिहास में ऐसे प्रसंग बराबर आते रहे हैं।

'अमिता' तक आते आते यशपाल की मुख्य चिंता शीत-युद्ध के अंतरराष्ट्रीय माहौल में विश्व-शांति के कारगर उपायों की खोज की चिंता हो गई थी। इतिहास के पन्नों में इस समस्या का एक संभावित समाधान उन्हें अशोक की कलिंग विजय के वृत्तांत में दिखाई पड़ा। वह अपनी परिणति में राजनीतिक विजय नहीं, तथागत के अभिधर्म की विजय थी। 'अमिता' तक पहुँचकर यशपाल को संभवतः यह विश्वास हो चला था कि बौद्ध-धर्म की मानव-मात्र के प्रति करुणा, निःस्वार्थ सेवा-वृत्ति, ब्राह्मण धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक लोकोन्मुख है। अपरिग्रह को यशपाल

भले ही निस्संकोच भाव से समर्थनीय न स्वीकार करते हों, पर अशोक की अंतिम प्रतिज्ञा में जो संकल्प किया गया है- उसमें विश्व-शांति की दिशा में सबसे सार्थक-सूत्र उन्हें निश्चय ही दिखायी पड़ा थाः 'सम्राट अशोक प्रतिज्ञा करता है, वह किसी से छीनेगा नहीं, किसी को डरायेगा नहीं, किसी को मारेगा नहीं। अब अशोक हिंसा और युद्ध से विजय की कामना नहीं करेगा।' क्या वर्तमान अन्तरराष्ट्रीय स्थिति में यह सूत्र किसी सार्थक जीवन-दृष्टि और आचार-संहिता का संकेत नहीं करता?

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में भारत की उपस्थिति की क्रमिक क्षीणता

विजय बहादुर सिंह

पराधीन भारत के जननायकों में अगर तिलक, गांधी, भगतसिंह और नेताजी सुभाष बोस थे तो स्वतंत्र भारत की बागडोर अकेले पं. नेहरू के हाथ आ गई। वे स्वयं सत्ता और सत्ता-केन्द्र थे जो कि जयप्रकाश नारायण, डॉ. राम मनोहर लोहिया और भूदान आन्दोलन के अगुआ आचार्य विनोबा भावे भी एक सीमित अर्थ में सक्रिय थे। किन्तु भारत के भावी विकास और नए भारतीय समाज की नवरचना में जितनी अगुवाई और पहल करने की सुविधा प्रधानमंत्री के रूप में पं. नेहरू को मिली हुई थी, उतनी न तो लोहिया को थी, न जयप्रकाश और विनोबा भावे को। तथ्य यह भी है कि जयप्रकाश और लोहिया भी प्रचलित अर्थों में समाजवादी ही थे। और याद करना गैरवाज़िब न होगा कि कांग्रेस ने १९३० में हुए कराची अधिवेशन में समाजवाद को भारत के नवनिर्माणकारी स्वप्न के रूप में मंजूर कर लिया था। पं. नेहरू एक गाँधीवादी नहीं, तब एक प्रगतिशील राष्ट्रीय नेता के रूप में नए ढंग से उभरने की सुविधा में आ गए थे। तीन-चार साल और पहले जाएँ तो याद कर सकेंगे कि १९२५ में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना की गई थी और एक नई समाज-व्यवस्था का सपना देखा जाने लगा था। मोटे अर्थों में ये सब समाजवादी थे और एक दूसरे से बहुत दूर भी नहीं थे। समाजवाद इनका सबसे राष्ट्रीय सपना था। गाँधी और उनका सर्वोदय पीछे चला गया था। भारत की जनता ने बाद में भी समाजवाद के इस अतिलुभावने सपने पर कई बार अपनी मुहर लगाई।

इस सन्दर्भ में कुछ साहित्यिक सन्दर्भ भी याद आते हैं। प्रेमचन्द जैसे गाँधी भक्त, युगान्तरकारी कथाकार ने अपने निबंध 'महाजनी सभ्यता' में १९१७ में घटित रूसी लाल क्रांति के प्रति अपनी ललक रेखांकित की। कवि निराला ने 'वन-बेला' कविता में उसके कुछ व्यंग्यात्मक चित्र दिए। आज जब 'समाजवाद' का सपना चारों खाने चित्त पड़ा है, कविता के कुछ मार्मिक अंश

बरबस याद हो आते हैं। निराला लिखते हैं-

फिर लगा सोचने यथासूत्र - मैं भी होता
यदि राजपुत्र

लक्षपति का भी यदि कुमार
होता मैं, शिक्षा पाता अरब-समुद्र-पार

इस तरह खर्च केवल सहस्र षट मास मास
पूराकर आता लौट योग्य निज पिता पास

जितने रूस के भाव, मैं कह जाता अस्थिर,
समझते विचक्षण ही जब वे छपते फिर-फिर,
फिर पिता संग
जनता की सेवा का व्रत मैं लेता अभंग
करता प्रचार
मंच पर खड़ा हो। साम्यवाद इतना उदार,

इस 'सोच' के भूखण्ड में टहलती निराला की दुर्दम मेधा का आगे का बयान भी गौर करने लायक है-

तप तप मस्तक
हो गया सान्ध्य-नभ का रक्ताभ दिगन्त-फलक;

कवि के 'मस्तक' का साँझ के रक्तिम क्षितिज में यह रूपान्तरण हमें उस मुहावरे के पास ले जाकर खड़ा करता है जिसमें किसी संवेदनशील का दिमाग ऐसी स्थितियों की विडम्बना पर सोचते-सोचते फटने लग जाता है।

बीसवीं सदी के चौथे दशक के इन दो महान सर्जकों, की दृष्टि का यह भेद भी गौर करने लायक है। प्रेमचन्द गाँधी को लेकर अनास्थावान तो नहीं हुए थे किन्तु समाजवाद के प्रति उनकी उन्मुखता भी प्रबल थी। निराला भी चाहते तो थे एक शोषण विहीन, सामंत विहीन, पूँजी के एकाधिकार से मुक्त समाज किन्तु यह कैसे और किन आधारों पर बनेगा, इसका कोई नक्शा वे नहीं देते। सरोज-स्मृति में अपनी पराजय मान लेने के बाद जब वे नए सिरे से शक्ति-संग्रह के लिए 'राम की शक्ति पूजा' जैसी कविता की ओर बढ़ते हैं, जाम्बवान के मुँह से जरूर एक वाक्य कहलवाते हैं- 'आराधन का दृढ़ आराधन से दो उत्तर'। कविता के अर्थ को अगर तात्कालिक राजनीति के सन्दर्भों में ले जायें तो यही कहना होगा कि साम्राज्यवाद की चालों का, रणनीतियों का, जवाब उसी की शैली में देना, इतिहास की जरूरत है। निराला और प्रेमचन्द ने इस 'रणनीति' का भले कोई नक्शा हमें मुहैया न कराया हो किन्तु इतना तो तय है कि दोनों को सामंतवाद पसंद नहीं था और अबाध भोगवाद भी। सन् इकतीस-बत्तीस से लिखी जाने वाली 'कामायनी' में भी इस निर्द्वन्द्वभोगवाद की तीखी आलोचना कर यह इशारा तो कर ही दिया गया है कि कैसा भी पूँजीवाद हो, हमारे इन लेखकों को मंजूर नहीं है। प्रेमचन्द तो १ दिसम्बर १९३५ को लिखे अपने

पत्र में विख्यात पत्रकार बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखते हैं (मूल पत्र अंग्रेजी में ही है अतः अविकल उद्धृत)- (The moment I see a man rich, all his words of art and wisdom are lost upon me. He appears to me to have submitted to the present social order which is based on exploitation of the poor by the rich. Thus any great name not dissociated with mammon does not attract me.)

इन प्रसंगों को जान बूझकर मैं यहाँ रख रहा हूँ जिससे हम कुछ भाषा-पदों- जो वस्तुतः पारिभाषिक हैं,- भारतीय जीवन और बुद्धिजीवियों/लेखकों के बीच उनके प्रवेश की परिस्थितियों और कारणों पर विचार कर सकें। यह भी महसूस कर सकें कि नई समाज-व्यवस्था का जो सपना आजादी पूर्व के दिनों में देखा जा रहा था, उसमें एक गाँधी का सर्वोदय वाला था तो दूसरा मार्क्सवादी सपना था जिसे समाजवाद के रूप में आजादी के बाद रचे गए संविधान में अहम मान्यता और प्रतिष्ठा मिली।

१९३६ में हुए प्रगतिशील लेखक संघ ने क्रमशः इसे- 'समाजवाद'- जैसे एक मात्र सपने के रूप में अपने साथी लेखकों के बीच प्रचारित किया, वरन् इसके पक्ष में उन्हें शिक्षित और अभियानकारी शैली में सुसंगठित भी किया। यह घटना भी उसी चौथे दशक के ठीक मध्य की है। इसके ठीक पाँच-छह साल बाद प्रयोगवाद जैसे आन्दोलन को लेकर आने वाले प्रवर्तनकारी काव्य-संग्रह 'तार सप्तक' की योजना बनने लगी और १९४४ में तो छपकर वह हिन्दी पाठकों के हाथ आ भी गया। अगर उसके संपादक 'अज्ञेय' को अलग कर दें तो अधिकांश कविगण वहाँ भी वामपंथी विचारों वाले हैं। उदाहरण के लिए- गजानन माधव 'मुक्तिबोध', प्रभाकर माचवे, नेमिचन्द जैन, रामविलास शर्मा आदि।

प्रगतिवाद के शुरुआती लेखकों/कवियों और 'तार-सप्तक' के इन कवियों को आमने-सामने रखकर देखें तो काव्य-विषय ही नहीं, काव्य-दृष्टि में भी साफ फर्क दिखाई देगा। यहाँ तक कि काव्य-शैली में भी। विचारधारा के स्तर पर 'तार-सप्तक' के कवि प्रगतिवादियों के निकट होकर भी काव्य और साहित्य संबंधी अपनी शैली, सोच और समझ में उनसे दूर हैं। प्रारम्भिक प्रगतिवादियों में आन्दोलनी उफान तीव्र है किन्तु काव्य-सर्जना के स्तर पर कोई नवीनता दिखाई नहीं देती। कभी किसान, मजदूर, गरीबी, भुखमरी, असमानता के दुखद बिम्ब आते हैं पर वे प्रेमचन्द जैसे कथाकारों के इसी जाति के कथा-बिम्बों से अलग लगभग किताबी दिखाई देते हैं। प्रेमचन्द ने अपने चरित्रों को जीवन-अनुभवों के कठिन साक्षात्कार के सहयोग से रचे जबकि प्रगतिशील कविता के शुरुआती दौर के कवियों में विषय तो मोटे अर्थों में प्रगतिवादी है किन्तु उसको प्रतिबिम्बन बेहद सतही और प्रभावहीन। मन्नूलाल द्विवेदी, 'शील', सुदर्शन, मलखान सिंह सिसौदिया की कविताएँ इसीलिए आगे चलकर भुला दी गईं और इन, तात्कालिक तौर पर अति परिचित हो उठे प्रगतिवादियों की जगह एक दूसरी कवि-त्रयी सामने आई जिसमें केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन और त्रिलोचन आज भी उल्लेखनीय माने जाते हैं।

इन कवियों में भले ही छायावादियों-सी भावाकुलता न हो, वैसी निर्बन्ध कल्पनाशीलता भी नहीं, किन्तु आजादी के आस-पास के वास्तविक जीवन के प्रामाणिक चित्र तो इनमें बहुतेरे हैं। यही कारण है कि विचारधारा के स्तर पर मार्क्सवादी होकर भी ये कविगण स्थानिक जीवन अनुभवों और राष्ट्रीय जीवन-प्रवाह की समस्त गतिविधियों के प्रति सर्जना के स्तर पर बेहद सचेत हैं। केदारनाथ अग्रवाल का 'फूल नहीं रंग बोलते हैं', नागार्जुन का 'सतरंगे पंखों वाली' और 'प्यासी पथराई आँखें', त्रिलोचन के संग्रह 'धरती' और 'दिगन्त' इसके जबरदस्त प्रमाण हैं।

विचार के स्तर पर गाँधी और उनके नायकत्व में चलने वाले राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन से असहमत होकर भी ये कविगण अपने काव्यानुभवों के स्तर पर बेहद देशी और जनसमर्पित हैं। इनके संग्रहों के शीर्षकों पर ध्यान से सोचते हुए आसानी से इस नतीजे पर पहुँचा जा सकता है कि ये अपनी ज़मीनों और उनसे फूटती काव्य-भाषा से कितने गहरे और रचनात्मक स्तर पर जुड़े हुए हैं।

हाँ, ठीक यही बात हम उन ठेठ प्रयोगवादियों को लेकर नहीं कह सकते जिनमें सबसे प्रमुख कवि के रूप में अज्ञेय आते हैं। अज्ञेय अपनी कविता में उसी सुशिक्षित पश्चिमोन्मुख भारतीय मध्यवर्ग को लेकर आते हैं, राजनीति में जिसकी अगुवाई जवाहरलाल नेहरू करते हैं। बाद में विजयदेव नारायण साही जैसे आलोचक, लोहिया जैसे पुराने कांग्रेसियों किन्तु परिवर्तित समाजवादियों के वैचारिक प्रकाश में उस लघु मानव को लेकर आते हैं जिसने गाँधी के नेतृत्व में अपने संघर्षों की परिणति दी।

आजादी के बाद के कथा-साहित्य में आने वाले कुछ बड़े नाम भी हैं- यशपाल, राहुल, अमृतलाल नागर और वृन्दावन लाल वर्मा। जैनेन्द्र, इलाचन्द्र जोशी और 'शेखरः एक जीवनी' वाले 'अज्ञेय' तो हैं ही। किन्तु ऐतिहासिक तिथियों की सटीकता से इन्हें आजादी के पहले और बाद में आने वाले न कहकर हम उसके आस-पास आने वाले कहना चाहेंगे। यहीं हम आजादी के बाद के सबसे बड़े कथाकार फणीश्वरनाथ 'रेणु' और उनके 'मैला आँचल' और 'परती-परिकथा' जैसे उपन्यासों की याद भी करना चाहेंगे। उस 'नई कहानी' आन्दोलन की भी जिसमें मार्कण्डेय, कमलेश्वर, राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश जैसे नामों के साथ निर्मल वर्मा, उषा प्रियंवदा, धर्मवीर भारती, शिव प्रसाद सिंह, अमरकान्त और शेखर जोशी जैसे समर्थ कथाकारों की याद की जा सकती है। उन द्विजेन्द्र नाथ मिश्र 'निर्गुण' की भी जो अपनी अति भावुकता और आदर्शवादिता के चलते तत्कालीन आलोचकों द्वारा खारिज किए जाते रहे।

राजनीति में नेहरू और हिन्दी साहित्य में अज्ञेय- दो ऐसे ऐतिहासिक नाम जरूर हैं जिन्हें भारतीय लोकजीवन में आधुनिकता के प्रवर्तन का जिम्मेदार ठहराया जा सकता है। इनकी आधुनिकता का ऐकान्तिक अर्थ पश्चिमीकरण के अलावा कोई दूसरा मुझे नहीं लगता। सोचता हूँ तो अपने आपसे पूछने का मन होता है कि १८५७ के मई मास से शुरू होने वाला स्वतंत्रता-संघर्ष, तिलक और गाँधी, सत्याग्रह, अहिंसा और स्वदेशी के महान बीज-स्वप्न क्या सचमुच हमारे इस अतिपुरातन देश के सन्दर्भ में आधुनिक नहीं थे?क्या उधार का पश्चिमीकरण ही आधुनिक था?वह चाहे पंचवर्षीय योजना हो, चाहे आज का उदारीकरण और ग्लोबीकरण, एक अवधारणा के बतौर कभी के समाजवादी रूस से तो आज उत्तरपूँजीवादी अमरीका से ही तो चलकर आ रहे हैं। इसमें हमारा अपना बुद्धि-पौरुष कहाँ है? ५ मार्च १९३१ की रात जवाहरलाल नेहरू आत्मकथा में गाँधी-इरविन समझौते, ४ मार्च १९३१ के प्रसंग में अंग्रेज कवि इलियट को उद्धत करते हुए अपनी प्रतिक्रिया दर्ज करते हैं-

> This is the way the world ends
> Not with a bang, but a whimper

'लघुमानव के बहाने हिन्दी कविता पर एक बहस' शीर्षक अपने दीर्घ समीक्षात्मक निबंध में विजयदेव नारायण साही लिखते हैं- 'मेरे देखने में इलियट का यह पहला उल्लेख है।' फिर वे सवाल उठाते हैं 'हिन्दुस्तान के किस विशिष्ट मानस का साम्य इलियट से बैठा?' यह भी कि

'भारतीय मानस अथवा हिन्दी मानस ने इलियट का क्या उपयोग किया?' साही जी के इस खोजपूर्ण सवाल का उत्तर हमें परिमल-ग्रुप के आलोचक और 'नयी कविता' पत्रिका के तीसरे संपादक राम स्वरूप चतुर्वेदी की पुस्तक 'हिन्दी नवलेखन' की इन पंक्तियों में मिल जाता है। वे लिखते हैं- 'हिन्दी नवलेखन की साहित्यिक पृष्ठभूमि का संदर्भ तब तक अधूरा रहेगा जब तक अंग्रेजी तथा यूरोपियन नवलेखन की रूपरेखा नहीं समझ ली जाती।'

डॉ. चतुर्वेदी आगे के पैरा में कम्यूनिज़्म और ह्यूमैनिज़्म की चर्चा करते हैं, बौद्धिक आन्दोलन के रूप में। यह भी कि ये आन्दोलन विश्वस्तर पर बौद्धिकों और स्वयं को आधुनिक कहलाने वाले फैशनेबुल लेखकों को अपने प्रभाव में लेते चले गए। यूरोप में यह १९३०-३२ का समय था और हिन्दी में १९३५-३६ से १९४२-४३ का। 'नवलेखन और विदेशी प्रभाव' शीर्षक नोट में यही डॉ. चतुर्वेदी लिखते हैं- 'कला आन्दोलनों का चक्र आगे या पीछे सभी विकसित संस्कृति के देशों में पहुँचता है... अतः नवलेखन का जो आन्दोलन इंग्लैण्ड में सन् ३० के आस-पास प्रारम्भ हुआ था, वह यदि हिन्दी में सन् ५० के बाद विकसित हो तो इसमें कोई आश्चर्य या खेद की बात नहीं है। सूर्य का उदय सब देशों में एक साथ न होकर आगे-पीछे होता है। यह भौगोलिक स्थिति अपरिवर्तनीय है, जबकि सांस्कृतिक चक्र को तेज किया जा सकता है। हिन्दी में गद्य का आन्दोलन, कथा-साहित्य का विकास, छायावाद और प्रगतिवाद ये सभी परिस्थितियाँ अंग्रेजी की तुलना में बाद में आईं। पर इसके बावजूद हिन्दी में इन साहित्यिक स्थितियों का विकास अंग्रेजी के प्रभाव के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह दूसरी बात है कि हमारी पूरी संस्कृति ही यूरोप और विशेषतः इंग्लैण्ड के सम्पर्क में परिवर्तित-या विकसित हो रही हो।' तथापि वे यह भी कहते हैं कि- 'उसमें विदेशी उधार कम है।' उन्हीं के अनुसार 'एक से प्रेरणा ग्रहण करने पर भी दूसरे की मौलिकता सुरक्षित रह सकती है, और रही है।'

डॉ. चतुर्वेदी ने नवलेखन की जिन कुछ कृतियों को गिनाया है उनमें धर्मवीर भारती का 'अंधायुग', रेणु का 'मैला आँचल' और लक्ष्मीकान्त वर्मा की समीक्षा-पुस्तक 'नयी कविता के प्रतिमान' हैं। आश्चर्यजनक रूप से उन्होंने यहाँ 'तार-सप्तक' के कवियों और कविताओं का जिक्र नहीं किया है। हाँ, रघुवीर सहाय और विपिन कुमार अग्रवाल के मौलिक कवि-व्यक्तित्व के प्रति इशारे अवश्य किए हैं।

जिन दिनों मैं हिन्दी एम.ए. उत्तरार्ध के छात्र के रूप में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की छत्रछाया में 'अंधायुग' के कवि धर्मवीर भारती पर लघु-प्रबंध कर रहा था। एक दिन मुझे संबोधित कर उन्होंने यह तीखी टिप्पणी की महाभारत युग को 'अंधायुग' कहना किसी भी स्थिति में उचित नहीं है। इसके ठीक दो-ढाई साल बाद जब वे खुद 'अंधायुग' पर कुछ टिप्पणी करने की मनःस्थिति में आए तो लिखा 'महाभारत में धृतराष्ट्र अंधा अवश्य है और वही शासक भी है, परन्तु महाभारत युग को या उसके किसी अंश विशेष को 'अंधायुग' कहना उक्त भारतीय महाकाव्य के प्रति अन्याय है। यद्यपि कवि को अधिकार है कि अपनी कल्पना के अनुरूप विभिन्न स्थलों की सामग्री का उपयोग करे। परन्तु इतिहास के प्रति यह एक बड़ा अतिचार भी है। विशेषकर महाभारत ग्रंथ के महत् उद्देश्य की पूर्ति (जो लेखक ने की है) भारतीय संस्कृति के प्रति भी अन्याय है।' वाजपेयी जी एक बड़े आलोचक के रूप में यह सवाल उठाते हैं कि महान ग्रंथों में आए हुए चरित्रों को मनमाने ढंग से, अपनी कल्पना के आधार पर उठाने का हक किसी कवि या कथाकार को है?या उसे देश और जाति की बद्धमूल धारणाओं का सम्मान करना चाहिए। वे लिखते हैं 'भारती ने इनमें से प्रथम विकल्प को स्वीकार किया है और द्वितीय विकल्प की

अवहेलना की है।' प्रयोगवादियों से अगर वाजपेयी जी प्रायः टकराते रहे तो उसका एक बड़ा कारण इस समूह के कवियों की वह मानसिकता रही है जो मध्यवर्ग का एक सीमित अनुभव-क्षेत्र लेकर आ रही थी, साथ ही सामूहिक संघर्ष और राष्ट्रीय मुक्ति के सपने के विरुद्ध वैयक्तिक स्वतंत्रता और परंपरा-विरोध को अपनी पहचान बना कर चल रही थी। 'छायावाद' पर लिखते हुए तार-सप्तक के माचवे (प्रभाकर) आदि कवियों ने जो आक्रामक और विध्वंसकारी तेवर अपनाया है, आचार्य वाजपेयी उससे भी काफी क्षुब्ध हैं। तार-सप्तक के कवियों को वे विचारों और विश्वासों में निर्बल, संशयालु और संस्कार-शिथिल कवि-विरादरी के रूप में देखते हैं। यह सब वस्तुतः उसी बुद्धिवाद का विकास था जिसमें संशय और प्रश्नाकुलता के तत्व प्रबल थे। आस्था की जगह अनास्था ने ले ली थी। विज्ञान धर्म की जगह आ बैठा था। छायावाद जिस आत्मवाद और आनंदवाद को भारतीय कविता और जीवन की पहचान के रूप में रेखांकित कर रहा था, भौतिक सत्यों का नकार तो उसमें भी नहीं था किन्तु यह कविता उसे वायवीय, किशोर और रुग्ण कह स्वयं जिस दिशा में बढ़ रही थी, उसमें स्थूल जीवन-व्यवहारों और तर्कों के अलावा और क्या था?हद से हद या तो यह जटिल मनोदेश की कविता थी या फिर घनघोर रूप से राजनीतिक जिसमें कवि ने मानस अस्तित्व को या तो एक बौद्धिक पशु के रूप में देखने की कोशिश की या फिर ऐसी राजनीतिक इकाई के रूप में जो तन्त्र के कैसे भी वर्चस्व में जीने को अभिशप्त हो।

१९५० के आस-पास लिखे अपने अति आक्रामक निबंध में यही सब अनुभव कर आचार्य वाजपेयी ने लिखा- 'प्रयोक्ताओं ने काव्यकामिनी का सौन्दर्य उसके ऊपरी संभार और प्रसाधनों में ही समझ लिया है, एक ऐसी अभिरुचि जिसका सामाजिक प्रतिरूप आजकल के सौन्दर्य द्रव्यों की बाढ़ में देखा जाता है। यह अभिरुचि आधुनिक भले ही हो, अभिनंदनीय नहीं है, स्वस्थ सौन्दर्यदृष्टि की परिचायक नहीं है। रुग्ण नारी को वेशभूषा से सज्जित करने का सा प्रयास है।' यह वाजपेयी जैसे प्रखर आलोचक ही हैं जो आजादी के ठीक आस-पास यह लिख रहे हैं कि 'जिन सौन्दर्य चमत्कारों की खोज का वे विज्ञापन करते हैं, उनका व्यवहार वे अपनी कृतियों में कर सके हैं, यह भी देखना होगा शैली संबंधी वे सौन्दर्य-प्रयोग हमारी भाषा की प्रकृति और हमारी रचनात्मक परम्परा के मेल में हैं या नहीं, यह भी जानना होगा, क्योंकि निरे विदेशी सौंदर्योपचारों का आँख मूँदकर अपनाने में हम कोई विशेषता नहीं देखते।'

'आलोचना' पत्रिका के अपने १९५६ के संपादकीय में श्री वाजपेयी 'नई कविता' की भाव-सम्पत्ति पर प्रश्न उठाते हुए लिखते हैं- 'ऐसी रचनाएँ अन्तर्मन से अधिक संबंध रखती हैं... वहाँ भावना अन्तर्मन की उसाँस भर है। इस प्रकार की रचनाएँ पश्चिम से हिन्दी में आ रही हैं। इनमें अन्तश्चेतन की प्रतिक्रिया बिना किसी प्रकार का चेतन सूत्र पकड़े व्यक्त होती है। वे रचनाएँ सामाजिक और व्यावहारिक तथ्यों से नितान्त असंपृक्त रहती हैं और कवि के निगूढ़ मन की छाया प्रतिभासित करती हैं। ऐसी कविताएँ हिन्दी में किसी नैसर्गिक प्रतिक्रिया का परिणाम नहीं कही जा सकतीं। यह निहायत विदेशी कलम है और हिन्दी के लिए बहुत कुछ बेमानी है।'

आज जिस 'खतरे' को लेकर हम-आप यहाँ चिन्ताकुल होकर बैठे हैं उसे १९५० और १९५६-५७ में ही भाँपकर इस आलोचक ने लिखा कि यह कविता 'हिन्दी के सामान्य पाठक के काम की नहीं रही। उसका क्षेत्र एक विशेष तबके तक सीमित हो गया है।' वह 'व्यक्ति और वर्ग की प्रतिनिधि होती जा रही है। सामूहिकता और सार्वजनिकता उसके उपादान नहीं रह गए हैं।' यह आलोचक मानता है कि 'काव्य की सार्थकता वैयक्तिक सुख-दुख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दुख की भूमि से ऊपर उठकर सार्वजनिक सुख-दुख की भूमि में पहुँचने में है।'

न यहाँ संतुलित मानववाद है न मानवतावाद। यहाँ कवि का अहं-प्रमुख व्यक्तित्व ही व्यंजित होता है। या फिर 'अंधायुग' जैसी कृतियाँ, जो कई दृष्टियों से एक सफल कृति होकर भी अनास्था से भरी हुई हैं। उसमें कामायनी (प्रसाद) और निराला के 'तुलसीदास' जैसी कोई स्पष्ट चरित्रगत रूपरेखा नहीं है।'

कहें तो यह कविता उस व्यापक और विशाल-क्षेत्रवासी हिन्दी मध्यवर्ग को संबोधित नहीं थी जिसका वास्ता मैथिलीशरण गुप्त अयोध्या सिंह 'हरिऔध', छायावादियों और बाद के बच्चन-दिनकर या फिर माखनलाल चतुर्वेदी और सुभद्राकुमारी चौहाण आदि कवियों की कविता से था। तब सोचना और खोजना पड़ेगा कि आखिर यह कौन-सा अतिविशिष्ट मध्यवर्ग था जो इसका पाठक था?क्या वही जो 'भारत-भारती', 'साकेत', 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा', 'तुलसीदास', 'मधुशाला' और 'कुरुक्षेत्र' पढ़ने वाला या फिर कोई और जो आम सामाजिक जीवन को अपने लिए बेहद असहज और इसीलिए औसत मान एक ऐसे प्रकोष्ठबद्ध मध्यवर्गीय जीवन की ओर चला गया था जो विशाल सामाजिक प्रवाह नहीं, द्वीपधर्मी था?जिसके सामने राष्ट्रीय जीवन-स्वप्न और संघर्ष उतने मानो खेज़ नहीं थे जितना कि उसका अपना अहं-मण्डित व्यक्तित्व जो अपने को ही सबसे बड़ा राष्ट्रीय यथार्थ मानता चल रहा था। कहीं इसी सोच की परिणति बाद में 'इन्दिरा इज़ इण्डिया' जैसे तानाशाही नारों में तो नहीं हुई?

'तार-सप्तक' (१९४३-४४) के बाहर और उसके किंचित कुछेक साल पहले आए समाजवादी यथार्थवाद ने सामूहिक भाव-धारा को सर्वहारा से जोड़कर दूसरा अतिवाद प्रदर्शित किया जिसमें व्यक्तिवाद और औसत सामाजिक जीवन के बदले एक छँटा-छटाया, घृणा और प्रतिशोध से भरा हुआ, आक्रामक किन्तु करुण सर्वहारावाद था। बाद में इसने अपने आपको अधिक मर्यादित किया और भारत की लगभग सभी दक्षिण और वाम राजनीतिक पार्टियाँ एक समय अपने-अपने समाजवाद लेकर आ उपस्थित हुई। पं. नेहरू, डॉ. लोहिया, आचार्य नरेन्द्र देव और जयप्रकाश नारायण ही नहीं, पं. दीनदयाल उपाध्याय भी इस तक आते दिखे। गाँधी फिर भी गाँधी रहे, भारत का आम जनमानस जिन पर भरोसा करता और जिन्हें अपनी आस्था और अपने दिग्दर्शक प्रकाश स्तम्भ के रूप में देखता रहा।

आज, जब यह निबंध लिखा जा रहा है, इन तमाम समाजवादियों का समाजवाद एक ध्वस्त स्वप्न की तरह पड़ा है। इससे जुड़े कई कट्टर वामपंथी बुद्धिजीवियों की आस्था घायल होकर विकल है और कई एकाध और समाजवाद का सपना देखने में लगे हैं। सत्तर-अस्सी सालों का भारत का इतिहास और उसके केन्द्र में रहे आए मजदूर और किसान अब इस समाजवाद की चिंता के केन्द्र में नहीं हैं, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। लेकिन यह कहने में शायद कोई हर्ज नहीं है सत्ता और व्यवस्था की धुरी-जगहों और केन्द्र में बैठे हुए तमाम नए और पुराने समाजवादियों और यथार्थवादियों की नकेल उस पूँजीवाद के हाथ में आ चुकी है जिसे वे कल तक अपना सबसे बड़ा राजनीतिक और सांस्कृतिक शत्रु मानकर चल रहे थे।

इस परिदृश्य पर गहराई से विचार करें तो पाएँगे कि गाँधी के साथ जो जन-समूह अपनी समस्त आकांक्षाओं के साथ चलकर आया था, उसे इन तमाम वाम-संप्रदायों ने समझने की कोशिश कभी नहीं की। संभव है इन्होंने वाम का शास्त्र खूब गहरे जाकर समझा हो पर उसके सहयोग से भारतीय समाज को बहुप्रकारीय और बहुस्तरीय अध्ययन कर इनकी जो समझ बननी थी, वह आज तक नहीं बनी। ये वे नए शास्त्रवादी हैं जिनके निष्कर्ष और मान्यताएँ जीवन के विवेचन, विश्लेषण और गहन अध्ययन से नहीं, शास्त्रीय पोथियों की अंधपूजा और मूढ़ रहन से

चलकर आते हैं। कबीर-तुलसी के जमाने में भी ऐसे शास्त्रवादी थे। भामह आदि आचार्यों के जमाने में भी और हमारे अपने ज़माने में भी उनकी उपस्थिति आज जगजाहिर है। इस नए शास्त्रवाद का साहित्यिक नाम है प्रगतिवाद जिसकी शुरुआत हिन्दी में १९३५-३६ में हुई और प्रेमचन्द, जो प्रचण्ड गाँधी भक्त थे, उन्हें बुलाकर इसका स्थापन किया गया। यही प्रेमचन्द पत्रकार रामचन्द्र टण्डन को इन्हीं दिनों लिखे अपने पत्र में लिखते हैं- 'रुस में भी सोवियत राइटर्स यूनियन है। और देशों में है या नहीं मुझे मालूम नहीं। लेकिन मुझे लेखकों को केवल क़लमी मजूर समझने में कष्ट होता है। लेखक केवल मजूर नहीं बल्कि और कुछ है- वह विचारों का आविष्कारक और उत्तेजक और प्रचारक भी है। जिस तरह आप उपदेशकों और प्रचारकों को संघ के रूप में नहीं ला सकते उसी तरह आप लेखकों को भी उस रूप में नहीं बाँध सकते। हाँ, संघ यह कर सकता है कि लेखकों और प्रकाशकों के बीच में भक्ष्य और भक्षक के व्यवहार को बन्द करने का उपयोग करे, लेखकों में ऊँचे आदर्श, ऊँचे आचरण और कला की उन्नति की व्यवस्था करे।' ३ फरवरी १९३५ को प्रेमचन्द फिर एक पत्र में लिखते हैं- 'लेखक संघ। मेरी राय में उसका एकमात्र उपयोगी काम सहकारी प्रकाशन है जिसमें कि हर लेखक जो उसका सदस्य है, तीस से लेकर चालीस की सदी रायल्टी पाने के लिए आश्वस्त हो जाय।... लेकिन कोई कारण नहीं है कि वह लेखकों की, जब प्रकाशक अनुचित रूप से उनका शोषण करते हों, सहायता न करे।' प्रेमचन्द को तब आज के विद्यमान लेखक-संघों और उनके मठाधीश-पुरोहितों की खबर नहीं थी जो न केवल प्रकाशकों से साठ-गाँठ किए बैठे हैं बल्कि उन राजनेताओं को भी अपना आका माने बैठे हैं जो बुनियादी रूप से सामंत हैं और प्रगतिशीलता को किसी मुखौटे की तरह धारण किए हुए जाहिर तौर पर इस या उस मुखर या मौनी बाबा की शरण में हैं। ३१ मार्च १९३६ के अपने पत्र में प्रेमचन्द बनारसीदास जी को लिखते हैं- 'इन राजनीतिज्ञों से तो कोई उम्मीद रखनी न चाहिए, बिल्कुल बेमसरफ लोग हैं। उनसे उदार मनस्थ होने की आशा ही न करनी चाहिए। लेखकों ही को आगे आना पड़ेगा।'

प्रगतिशीलता और जनवाद के मूलाधार पर विचार करते हुए यह विक्षेप मुझे जरूरी जान पड़ा। हमें यह सच भी मंजूर कर लेना चाहिए कि १८वीं और १९वीं सदी जहाँ यूरोप के लिए ज्ञान-विज्ञान के नये और असाधारण बौद्धिक प्रस्थानों की सदी रही वहीं भारत के लिए धीरे-धीरे मानसिक और भौतिक पराजय की सदी। अंग्रेजी ढंग की शिक्षा ने हमारी सहज सृजनशीलता छीन ली और हम अपना पारम्परिक, आत्मविश्वास बहुत दूर तक खो बैठे। इसका जैसा भयावह असर हुआ, इसे साबित करने और समझाने की आज जरूरत नहीं। सब कुछ आँखों के सामने है। सोचता हूँ अगर १८५७ का ऐतिहासिक बोध न जागता, राजाराम मोहन राय, दयानंद, ज्योति बा फुले, केशवचन्द्र सेन, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, विवेकानंद, रवीन्द्रनाथ के बावजूद गाँधी न आए होते तो यह अतिपुरातन देश आत्मबोध की हदों तक कैसे पहुँच पाता। लेकिन गाँधी के 'हिन्द स्वराज' की बहसों को आज भुला दिया गया है।

अंग्रेजी ढंग की शिक्षा-पद्धति और आजादी के बाद के उच्चशिक्षा प्राप्त वर्गों ने जो मानस और व्यक्तित्व प्राप्त किया है, उसकी रचना के मूल में परम्परागत ज्ञान-विज्ञान नहीं, यूरोप और अमरीका आदि देशों को वे नवीन जानकारियाँ हैं जो हिन्दी भाषा-समाज और साहित्य में नई और आधुनिक के नाम पर आ रही हैं। खास तौर से नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में तो ये वर्चस्वी ही हो उठीं। लेकिन बेचारे नेहरू तो खुद उसी शिक्षा की उपज और परिणाम थे। इसलिए वे अक्सर अपने देश के लोगों में वैज्ञानिक मिजाज़ की कमी देखा करते थे। उन्होंने कभी शायद ही डारविन

से यह पूछा हो कि मनुष्य क्या किसी हद तक मनुष्य भी है या फिर वह चली आती पशुता का ही विकास है?याद करें तो एक भारतीय ऋषि अरविन्द ने अति मानस का सपना देखा, पिछली सदी में ही और जीवन की दिव्यता का संदेश दिया। रामायण और महाभारत जैसे प्रस्थानकारी काव्य हमें याद दिलाते हैं कि आदिम प्रवृत्तियाँ ही पाश्विक और अन्यायपूर्ण हैं। वे चाहे रावण में दिखें या कंस और दुर्योधन में। मनुष्यता का धर्म इन्हीं के विरुद्ध लड़ना है। साहित्य इसी रूप में उस जुझारू और दिव्य मानवता का जयगान है जहाँ धर्म-अधर्म, जय-पराजय, मनुष्य और पशु या फिर राक्षस और देव की अन्तररेखाएँ हमारे बोध को सुस्पष्ट करती हैं। ज्ञान-विज्ञान तो किसी के भी पास हो सकता है। वह अगर बुश और अमरीका के पास हो सकता है तो उसे दहला कर रख देने वाले ओसामा बिन लादेन के पास भी। दोनों एक दूसरे के प्रति इसी बल पर खूँखार भी हो सकते हैं और हो भी गए हैं। हम लेखकों के सामने ये दोनों ही कथित रूप में आधुनिक मानस हैं जिनकी पशुता को प्रमाणित करने की जरूरत नहीं। चाहे डार्विन हों या फ्रायड आदि, हम भारत के लोग सिर्फ अवचेतन की निरंकुशता और उच्छृंखलता को अपना जीवन-आदर्श नहीं बना सकते। 'चित्रलेखा' उपन्यास के लेखक की तरह यह नहीं सोच सकते कि हम न पाप करते हैं, नु पुण्य, हम तो वही करते हैं जो हमें करना पड़ता है। यदि यही भारतीय जीवन-दृष्टि का सारतत्व है तो फिर राम, कृष्ण, गौतमबुद्ध और गाँधी का प्रयोजन क्या?क्या यही संस्कृति का संस्कार है?

इसलिए चाहे अन्तश्चेतना का यथार्थ हो, चाहे भौतिक सभ्यता की आधारभूत सामाजिक विसंगतियों की वास्तविकताएँ, आधुनिक और प्रगतिशील तो वे तभी मानी जाएँगी जब वे पिछले जमानों में विकसित की गईं मनुष्यताओं की तुलना में अधिक परिष्कृत, अधिक करुणापूर्ण, प्राणिमात्र के हित में अधिक व्यापक, उदार और विश्वजनीन हों।

आजादी के बाद लिखे गए इस प्रकार के यथार्थवादी लेखन में इस सपने की आहट बेहद कम और इसकी विकृतियों का ब्यौरेवार चित्रण बहुत ज्यादा मिलता है। साहित्य-सृजन अपनी बुनियादी ज़मीनों का त्याग कर राजनीति, मनोविज्ञान और एक अर्थ में ज्ञान-शाखाओं का प्रचारक बन गया है। खास तौर से समाजवादी यथार्थवाद के हिमायती लेखकों ने एक समय ऐसा रुख अपना लिया है कि आलोचकों को आगे आकर यह कहने की जरूरत पड़ गई कि साहित्य के लिए यह वोलिंटियरी वृत्ति किसी भी रूप में हितकर नहीं कही जा सकती। साहित्य का काम किसी भी प्रकार की साम्प्रदायिकता का निषेध है, साथ ही उस विश्वमानवता के उत्कर्ष के सपने देखना जिससे सामाजिक जीवन अधिक गरिमा का अनुभव कर सके। साहित्य का बुनियादी काम फूलों की पंखुड़ियों की पृथकता और द्वन्द्वभाव को रेखांकित करना नहीं, बल्कि उनमें अन्तर्निहित सार-सुगंध का अनुभव कर पाठकों का अपनी कला की मदद से उनका साक्षात्कार कराना है।

भारतीय समाज आज जातियों के द्वन्द्वपूर्ण द्वेष औ सामाजिक बिखराव की ओर बढ़ रहा है। जातियों की अस्मिताएँ सामाजिक जीवन और राष्ट्रीय सपनों की तुलना में कहीं बड़ी साबित हो रही हैं। राजनीति, अर्थशास्त्र, विज्ञान, प्रौद्योगिकी इसे घटाने के बजाय निरन्तर बढ़ाने में लगे हैं। जाति से जाति, वर्ण से वर्ण ही नहीं, मनुष्य से मनुष्य और व्यक्ति से व्यक्ति की दूरियाँ बढ़ाई जा रही हैं। क्रूरता और प्रतिशोध, बाजार और मुनाफा, समकालीन जीवन के बहुत बड़े मूल्य हुए बैठे हैं। राज्य स्वयं एक बड़ी अन्यायी सत्ता के रूप में उभरकर सामने आ गया है। प्रश्न चाहे ताजमहल का हो या फिर नंदीग्राम और सिंगूर के किसानों का, राज्य का व्यवहार बेहद निरंकुश अमर्यादित, क्रूर और हिंस है। लोक और लोक भावना का तो अब प्रश्न ही नहीं। संस्कृति और परम्परा के कथित ठेकेदारों से स्वयं संस्कृति की रूह काँप रही है।

अगर ज्ञान और उसकी अबाध सत्ता का नंगा नाच ही सब कुछ है जैसा कि हम हिरोशिमा-नागासाकी से लेकर दुनिया भर में अपना दबदबा और आतंक फैलाए आतंकवाद को आज देख रहे हैं तो विज्ञान और ज्ञान की यह आसुरी सभ्यता हमें ले कहाँ जाएगी?सत्याग्रह और अहिंसा को अपना अस्त्र मान आजाद हुए भारत को भी क्या यहीं पहुँचना था?या फिर हमारा अपना स्वतंत्र लक्ष्य और स्वतंत्र प्रस्थान था?क्या हमारा समकालीन साहित्य इस लक्ष्य को हृदयंगम कर सका है?क्या उसने अपने प्रस्थानों पर कभी विचार किया है?

इन दोनों मूल प्रश्नों पर सोचें तो आजादी के बाद लिखे गए साहित्य में कुछ ऐसी कृतियाँ भी हमें मिलती हैं तो इन लक्ष्यों और प्रस्थानों की याद दिलाती हैं। कवि और लेखक आज प्रायः अपना आत्मविश्वास खो चुके हैं। वे या तो आलोचकों के पिछलगुए हो गए हैं या फिर उन्हीं की गोद जा बैठे हैं। स्वयं को अति महत्वपूर्ण और युगान्तरकारी लेखक/कवि मानने वालों को जब ऐसे आई.एस.आई. मार्का बने आलोचकों के आगे-पीछे घूमता और चक्कर लगाते पाता हूँ तो इस साहित्यिक विडम्बना पर दया से भर उठता हूँ। याद आते हैं प्रसाद और निराला या फिर प्रेमचन्द जो अपनी असाधारण सृजनशीलता के बल पर एक नए साहित्यिक युग का प्रवर्त्तन कर आलोचकों से ऐतिहासिक संवाद कर रहे थे। याद करें तो प्रसाद और निराला यह संवाद रामचन्द्र शुक्ल से तो प्रेमचन्द नन्द दुलारे वाजपेयी से कर रहे थे। अन्ततः सर्जकों की सर्जना ने आत्मस्थापन किया और सृजन आलोचनात्मक धारणाओं की बद्धता को गतिशील करने में कामयाब हुआ।

सर्जक और आलोचक में एक बुनियादी भेद तो यह होता ही है कि पहला जहाँ अनुभवों का नया प्रदेश और उसके प्रति एक नवोन्मेषी दृष्टि लेकर आता है, वहीं आलोचक परम्परा से चली आ रही और लगभग एक व्यवस्थित तर्क पद्धति बन चुकी शास्त्रीयता के प्रति इतने निर्द्वन्द्वसमर्पण भाव से भरा रहता है कि गतिशील जीवन-सत्यों और उनके बदलते हुए रूपों के प्रति तत्काल आश्वस्त नहीं हो पाता। इसका सबसे बड़ा उदाहरण आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के उस स्टैण्ड में हम देख सकते हैं जहाँ वे रहस्यवाद के विरुद्ध कमर कसकर ही नहीं, खड्गहस्त खड़े हैं। उनकी इस मोर्चेबंदी का उत्तर 'रहस्यवाद' निबंध लिखकर प्रसाद देते हैं, निराला और महादेवी भी देते हैं। शुक्लजी की बात मानी नहीं गई और कविता में रहस्यवाद एक अहं काव्य-प्रवृत्ति के रूप में मान लिया गया। प्रयोगवादियों से लड़ते-झगड़ते नन्द दुलारे वाजपेयी को १९५५ में यह लिखने में तोष का अनुभव हुआ कि 'तार-सप्तक' के महारथियों के लिए मेरी उस निबंध की दुर्द्धरता सचमुच अभिमन्यु का 'बचकाना' प्रयास ही है। खैरियत यह हुई कि यह अहिंसात्मक युद्ध किसी के सिर नहीं बीता, पर हृदय-परिवर्तन बहुतों का हुआ है। बहुत से प्रयोगवादी नए सिरे से समझदार हो गए हैं और कई तो खेमा छोड़कर बाहर चले गए हैं।'

१९६२-६३ में डॉ. नामवर सिंह ने जब एक लेखमाला ज्ञानोदय में 'नयी कविता पर क्षण भर' शुरू की थी तब जिस एक कवि के आक्रामक हस्तक्षेप ने उस योजना को धराशायी किया था उसका नाम श्रीकान्त वर्मा था। हाल के महीनों में 'नया ज्ञानोदय' में कवियों और उनके आलोचकों की यह तकरार हमारे सामने है। पर उन कवियों और लेखकों का हम क्या करें जो साहित्यिक मौसमों का मिज़ाज देखकर लिखते और मठाधीशों की निगाह पर पलते हैं।

आलोचना आज दुर्दशाग्रस्त है। स्वयं को महानायक कहलाने वालों ने उसे फिकरेबाजी में बदल डाला है। जिस सपाटबयानी को लेकर वे आए थे, वह किसी काव्य-सिद्धान्त के रूप में मंजूर न हो सकी। मुक्तिबोध कला के जिन तीन क्षणों की चर्चा करते हैं, वे परम्परागत काव्य-चर्चा में

कैसे शामिल किए जाएं इस पर आज तक शायद ही कोई चिन्ता दिखाई पड़ी हो। लघुमानववाद पर आज भी राम-कृष्ण-गौतमबुद्ध और गाँधी का महामानवपन भारी पड़ रहा है। यथार्थ और मिथक के बीच आज भी द्वन्द्वछिड़ा हुआ है। इस पर कोई विचार नहीं करता कि मुक्तिबोध की फैण्टेसी का पश्चिम के कल्पना सिद्धान्त और भारत के अलंकारवाद से क्या रिश्ता है?अथवा यह कोई अन्य शक्ति है जो कल्पना से भिन्न है और किसी भी प्रकार से काव्य की शोभा के विधान में योगदारी नहीं?

बीसवीं सदी के छठवें दशक में मराठी का जो दलित लेखन आया था उसके पीछे के ऐतिहासिक और राजनीतिक कारण हमें ज्ञात हैं। बाद में वह हिन्दी में भी आया और उसकी कई व्याख्याएँ आज हमारे पास हैं। यह भी खुशी की बात है कि इसी दलित लेखन के चलते अमीर-गरीब के यथार्थ में निवास करने वाली हिन्दी आलोचना अब वर्णों और जातियों की हकीकतों को मंजूर करने लग गई है। पर अभी यह तय करना बाकी है कि यथार्थवाद का आयातित शास्त्र भारत की अपनी जटिल सामाजिक संरचना को समझने और व्याख्यायित करने में कितना समर्थ है?सर्वहारा अगर एक आर्थिक और राजनीतिक पद है तो इसमें कौन से लोग आज आते हैं। क्या वे पिछड़े भी जो एक संतोषजनक आर्थिक स्तर का जीवन जीते हुए भी सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर हीन समझे जाते हैं या फिर वे अस्पृश्य दलित समूह जिन्हें मनुष्य ही नहीं माना जाता रहा। ऐसी सोच में वह भिक्षोपजीवी ब्राह्मण कहाँ माना जाए जो बुनियादी तौर पर दरिद्र होकर सामाजिक और सांस्कृतिक तौर पर प्रतिष्ठा प्राप्त है?यथार्थवादी साहित्य शास्त्र ने इन जटिल वास्तविकताओं पर आज तक विचार नहीं किया। प्रेमचन्द और निराला ने थोड़ी बहुत पहल की पर आज उसका भी कोई अर्थ माना नहीं जा रहा है।

समकालीन हिन्दी आलोचना उधार की खेती पर जिन्दा है। आलोचकों ने नाम पर सूचना-पण्डितों और पश्चिमी शास्त्रवादियों की बाढ़ सी आ चुकी है। पश्चिम की नई से नई बातों की खबर उनके पास है। यह देख हैरत में रह जाना पड़ता है कि उन्हें न तो भामह-दण्डी की खबर है, न अभिनवगुप्त की। वे वामन और आनंदवर्धन के बारे में उतने ही अनाड़ी हैं। १६वीं सदी के हठवादी आर्य सामाजियों का मानना था कि भारत में सब कुछ है, यहाँ तक कि वायुयान बनाने के फार्मूले भी। २०वीं और २१वीं सदी के हमारे समकालीन आलोचकों के यहाँ भारतीय कला-चिंतन और साहित्य-शास्त्र पूरी तौर पर नकार दिया गया है। पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक कथाएँ, किस्सा तोता-मैना, बारह लखन्दर की कथा, आल्हखण्ड के साथ वाणभट्ट की कादम्बरी, हर्षचरित जैसी कृतियों में गल्प और आख्यान की जो जुगलबंदी है, उसे समझने से परहेज करते हुए कथा-साहित्य की आलोचना में जिस 'आख्यान' को पछीटा और छीटा जा रहा है, उसके मूल अर्थ परम्परा में क्या हैं, हम कितनी दूर तक उसे एक मनमाने अर्थ में प्रयुक्त कर सकते हैं, इस पर विचार करने को कोई एक आलोचक भी आगे नहीं आता। आलोचना एक राह चलते का तदर्थ व्यापार बन चुकी है। मैं ऐसे कवियों और सर्जकों से भी परिचित हूँ जो रीतिकाल की गहरी जानकारियों से सर्वथा अपरिचित रहते हुए भी पद्माकर पर अपनी शेखचिल्यिानी टिप्पणियाँ देते रहे हैं। और उन आलोचकों का तो खैर किया ही क्या जा सकता है जो बात तो कबीर और निराला की करते हैं और धर्म, दर्शन, अद्वैतवाद और रहस्यवाद के सन्दर्भों पर चुप्पी साधे रहते हैं। आलोचना के क्षेत्र में ये खण्डित और तात्कालिक दृष्टियाँ उस जातीय जीवन-दृष्टि की क्रांतिकारिता और उसके अतिवाद से संवाद नहीं कर पातीं जिससे एक और जीवन-दृष्टि अँखुवे सी फूटने का सुअवसर पा सके।

संवाद से कहीं अधिक हिन्दी आलोचना पाण्डित्य-प्रदर्शन और सूचना-पौरुष बन चुकी है। वह कृतियों से टकराने और मौलिक प्रतिभाओं को पहचानने के बजाय अपने अखाड़े में कसरत करते पट्ठों को पहलवान साबित करने में जुटी हुई है। प्रसाद, निराला, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, यशपाल और अज्ञेय, मुक्तिबोध के बाद रेणु और निर्मल वर्मा से जो संवाद घटित किया जा रहा है, उसमें साहित्य कम साहित्य की राजनीति कहीं ज्यादा है। मूल्यांकन के केन्द्र में सौन्दर्य-मूल्यों की जगह विचारधारा की प्राथमिकता और वर्चस्व है। नाम लिखाओ और इनाम पाओ की शैली में पुरस्कार और प्रमाण-पत्र बाँटे जा रहे हैं जैसे कि यह सारा खेल सिर्फ लेखक और आलोचक के बीच का हो।

हिन्दी भाषी समाज की कथित आधुनिक बुद्धिजीविता पर मुखापेक्षी, श्रमविमुख और साधना-शून्य है। राजनीति विज्ञान, प्रौद्योगिकी और बाजार- सबके सब पश्चिम की घनघोर नकल, दलाली और सेवा में लगे हैं। इसका बुनियादी कारण वह साम्राज्यवादी शिक्षा-ढाँचा है जिसके मूल में ही स्वदेश-विरोध है। भारत के ताकतवर माने जाने वाले लोग संस्कृत नहीं, अंग्रेजी जानते हैं। अपने ज्ञान-विज्ञापन के मूल स्रोतों और प्रस्थानों से अपरिचित ये नायकगण (?) तब कैसे भारत और कैसी भारतीयता का निर्माण करेंगे- यह सोचने पर गहरी चिंताएँ घेर लेती हैं।

अन्ततः साहित्य का काम बहके और बिखरे हुए जातीय जीवन की सहेज-सम्हाल और भरोसेमंद संरचना है। उन जीवनमूल्यों के समर्थन में मानव-आस्थाओं का प्रतिस्थापन है जो समय की आँधी में विचलित हो तितर-बितर हो उठी हैं। निस्सन्देह समकालीन भारत एक कठिन ऐतिहासिक संकट से गुजर रहा है। उसके सामने भारत की सवा अरब आबादी का जीवन-भार और उसकी युगांतरकारी महत्वाकांक्षाओं वाला चुनौतीपूर्ण भविष्य है तो इस प्रबल लालसा-कुण्ड में प्रलोभन डालने वाली मुनाफाखोर कंपनियों के अपने-अपने अतिज्वलनशील विज्ञापन-घृत हैं। सरकारें लगभग ठेकेदारों और बिचौलिए दलालों की हैसियत में आती जा रही हैं। समाज निरन्तर पीछे हट रहा है और बाजार उसकी जगह ले रहा है। बाजार द्वारा विज्ञापित सुन्दरियों और उनके आक्रामक सौन्दर्य प्रसाधनों का जवाब साहित्य और कलाओं को खोजना और देना है। १९वीं और २०वीं सदी के भारत ने पुराने साम्राज्यवाद का जवाब जिन हथियारों के बल पर दिया था, इक्कीसवीं सदी का भारत नए साम्राज्यवाद का जवाब देने में उनको कितना प्रासंगिक और उपयोगी पाता है, इस पर बहस जारी है। यही एक शुभ संकेत है। भारतीय साहित्य इस संकट का मुकाबला करने के लिए कौन से रास्ते और किस प्रकार की रणनीति अपनाता है, यही प्रश्न सबसे अहम् है।

मिथिला में ग्रियर्सन

अरुण कुमार

बिहार और मिथिला में ग्रियर्सन ऐसे शीर्षक में कुछ खास है। ग्रियर्सन के समग्र साहित्य के सिलसिले में इनका महत्व है। वे बिहार के कई इलाकों में रहे। बिहार को उन्होंने बहुत करीब से देखा और जाना। मिथिला में वे तीन साल (दिसम्बर, १८७७ से जुलाई, १८८० तक) रहे। मधुबनी के अपने तीस साल के प्रवास में उन्होंने विद्यापति समेत मैथिली के दूसरे कवियों (हर्षनाथ झा और फतूरी लाल) के पदों का संकलन किया। ग्रियर्सन के पहले कोलब्रुक यहाँ की प्रशासनिक सेवा में आ चुके थे। उनका एक निबंध (एसे ऑन संस्कृत एंड प्राकृत लैंग्वेज, १८०१ ई.) चर्चित हुआ था। ये विद्वान इस इलाके के लिए मैथिली का महत्व समझते थे। इनके पहले विलियम केरी (१७९३ ई./सीरामपुर) ने भाषाओं के वर्गीकरण में मैथिली को भी शामिल किया। उनका वर्गीकरण स्थान-विशेष को इंगित करता है, उदयपुरी, बीकानेरी, मारवाड़ी, कच्छी, ब्रज मैथिली। भाषाओं का यह वर्गीकरण कोई नया नहीं है। केरी कभी बिहार नहीं आये, पुराने विवरण और अनुभव के आधार पर उन्होंने मैथिली का महत्व समझा। मिथिला की सम्पर्क भाषा मैथिली उस समय भी थी।

ग्रियर्सन के भाषा-सर्वेक्षण के पाँचवें खंड का शीर्षक 'इंडो आर्यन फेमिली (ईस्टर्न ग्रुप)' और छठे खंड का शीर्षक 'इंडो आर्यन फेमिली, मेडिएट ग्रुप (ईस्टर्न हिन्दी)' है। 'ईस्टर्न हिन्दी' दोनों में है। फिर भी बिहार को हिन्दी प्रदेश मानने से इनकार। पुराने मिथिला राज्य को आधुनिक संदर्भ में जीवंत करने की पृष्ठभूमि से पहले की तरह और कहें दूसरे राज्यों की तरह मिथिला में भी सामंती ढाँचे की हिफाजत हो पाएगी। भाषा सर्वेक्षण के सभी खंडों के छपने के बाद यानी तीस के दशक में बिहार से अलग झारखंड राज्य की माँग होने लगी थी। झारखंड, मिथिला और उत्तर प्रदेश में भोजपुरी, ये खाँचा यूरोपीय विद्वानों की ज़हन में था। ये ही इलाके बीसवीं शती के शुरुआती दौर में ब्रिटिश-विरोध के केन्द्र भी थे।

मिथिला में ग्रियर्सन का काम बहुत महत्वपूर्ण रहा है। वे विद्यापति समेत हर्षनाथ झा, फतूरी लाल के पदों और दुसाधों में प्रचलित सलहेस के कथा-गीत की खोज करने वाले पहले विद्वान थे। उन्होंने स्वयं इनका अंग्रेजी में अनुवाद किया। इनकी शब्दावली तैयार की। शब्दों के प्रासंगिक अर्थ को जानने में बहुत मेहनत करनी पड़ी होगी। वे एक साथ लोक साहित्य और शिष्ट साहित्य में काम कर रहे थे। उन्होंने तुलसी की तरह ही विद्यापति के साहित्य से हिन्दी के पाठकों का पुनः परिचय कराया है। द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान में वे विद्यापति को १५वीं शती के धार्मिक पुनर्जागरण की परम्परा का कवि मानते हैं। इस पुनर्जागरण वाले अध्याय में सबसे पहले रामानन्द स्वामी (१४०० ई.) और फिर इसी क्रम में विद्यापति आते हैं। ग्रियर्सन के अनुसार दोनों वैष्णव सम्प्रदाय के कवि हैं। उनका यह भी कहना है कि गीत परम्परा के प्रवर्तक के रूप में विद्यापति ठाकुर पूरे बंगाल और 'कर्मनाशा से कलकत्ता तक प्रत्येक घर में सुपरिचित हैं।' उनकी सूचना है कि इन सीमाओं के अंतर्गत आने वाली अनेक बोलियों में उनके गीतों के रूपान्तर हुए हैं। इस अध्याय में मैथिली के एक अन्य कवि और विद्यापति के समकालीन उमापति (१४०० ई.) और जयदेव (१४०० ई./ 'गीत गोविन्द' के रचयिता से भिन्न) की भी चर्चा है। इसी अध्याय में मीराबाई (१४२० ई.) के विस्तृत विवरण के साथ ब्रज और गुजरात के कवियों का भी संक्षिप्त विवरण है। द मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान की प्रस्तावना में ग्रियर्सन देशी भाषाओं में मारवाड़ी, हिन्दी और बिहारी की गणना करते हैं। १५वीं शती के धार्मिक पुनर्जागरण से बिहार, उत्तर प्रदेश, राजस्थान और गुजरात के कवियों की चर्चा करते हैं। एक समय में पूरे उत्तर भारत के धार्मिक पुनर्जागरण का ब्यौरा महत्वपूर्ण है। इसे उन्होंने 'सामाजिक' नाम नहीं दिया है।

विद्यापति मैथिली के कवि हैं या बँगला के। बिहार के हैं या बंगाल के। भोजपुरी क्षेत्र में भी उनके गीत रचे-बसे हैं। असम के इलाके में भी। वे हिन्दी के अपवाद कवि हैं जिनके साहित्य की लोकप्रियता अपनी जगह है, उन्हें अपनी पूँजी बताने की जद्दोज़हद होती रही है। संभव है उस दौर (१३६०-१४४० ई.) के अन्य कवि भी होंगे जिनकी भाषा को लेकर बहस हो सकती है। भाषा और साहित्य के विकास की दृष्टि से वह समय संक्रमण का था। विद्यापति अवहट्ठ, मैथिली और संस्कृत में लिख रहे थे। वे कई विषयों के विद्वान थे, ज्योतिष, भूगोल, इतिहास, व्याकरण, पुराण, स्मृति, धर्मशास्त्र, नीति शास्त्र इत्यादि। अधिकांश विषय पर उनकी रचना मिलती है। कीर्तिलता, कीर्तिपताका (अवहट्ठ) इतिहास की पुस्तकें हैं। भू-परिक्रम (संस्कृत) भूगोल का विवरण देती है। इसमें भारत के विभिन्न तीर्थों का ब्यौरा मिलता है। शैव सर्वस्वसार और शैव सर्वस्वसार-प्रमाणभूतसंग्रह (संस्कृत) पुराण-साहित्य का गहन अध्ययन है। गंगा वाक्यावली, दान वाक्यावली, दुर्गाभक्ति-तरांगिणी, गयापत्तलक और वर्षकृत्य (संस्कृत) स्मृति ग्रंथ हैं। वर्षकृत्य मुख्यतः धर्मशास्त्र है। पुरुष परीक्षा (संस्कृत) नीतिशास्त्र और काम-कला से सम्बद्ध हैं। लिखनावली (संस्कृत) में मिथिला के भृत्य (गुलाम) और दासियों के क्रय-विक्रय सहित मिथिला के किसानों का जीवन प्रस्तुत करती है। यह पत्र-साहित्य भी है। इसमें पत्र लिखने के तौर-तरीके का वर्णन है। विद्यापति के प्रपौत्र द्वारा संकलित पदावली (मैथिली) श्रृंगार और भक्ति का साहित्य है। बड़ी बात है कि विद्यापति की रचनाएँ नेपाल से लेकर बंगाल तक के पुराने संग्रहालयों में मिलती हैं। विद्यापति का पांडित्य तो अपनी जगह है, रचनाकार के रूप में उनका महत्व रीति और भक्ति के किसी भी कवि से कम नहीं था। गीतों में प्रकृति का ऐसा गत्यात्मक चित्रण, मानव के क्रिया-व्यापार और अनेक अलंकारों की अद्‌भुत छटा बहुत कम कवियों में मिलती है। अनुप्रास का सौन्दर्य देखना हो तो विद्यापति का साहित्य मौजूद है, नव वृन्दावन नव नव तरु गन/नव नव

विकसित फूल/नवल वसन्त नवल मलयानिल/मातल नव अति कूल/बिहरइ नवल किसोर/कालिन्दी पुलिन कुंज वन सोभन/नव नव प्रेम विभोर। आधुनिक युग में महाकवि निराला में (जुही की कली एवं वर दे वीणा वादिनि) में 'नव-नवल' का प्रयोग हुआ है। लोक साहित्य से शिष्ट साहित्य की रचना की अपनी यात्रा है जिसका पल्लवन विद्यापति के साहित्य में मिलता है। ऐसे महाकवि के साहित्य को अपनी पूँजी बताने के लोभ से कोई कौम वंचित नहीं रह सकेगा।

जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने विद्यापति समेत फतूरीलाल और हर्षनाथ झा के साहित्य की खोज कर अवध से लेकर मिथिला तक के साहित्य प्रेमियों का बड़ा उपकार किया है। यह बड़ा काम है। अपने बिहार प्रवास की अवधि में ग्रियर्सन ने मैथिली की तरह ही भोजपुरी के साहित्य की खोज की। यहाँ की विभिन्न जातियों में प्रचलित लोक साहित्य को संकलित किया, अंग्रेजी में अनुवाद किया। ग्रियर्सन अवध और ब्रज क्षेत्र के अलावा बिहार की बोलियों के भी जानकार थे। मधुबनी में वे १८८० ई. तक रहे। उस समय मधुबनी दरभंगा जिला का अनुमंडल था। दरभंगा भी नवोदित जिला (१८७५ ई.) बना था। मधुबनी को आदर्श मैथिली का इलाका माना जाता है। मधुबनी प्रवास के कुछ ही वर्षों बाद १८८२ ई. में उनकी महत्वपूर्ण किताब एन इंट्रोडक्शन टू दी मैथिली लैंग्वेज ऑफ नॉर्थ बिहार कंटेनिंग ग्रामर, क्रेस्टोमेथी एंड वोकेबुलरी आयी। इसके कई वर्षों बाद १९०२ ई. विद्यापति पर उनका लेख जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी (कलकत्ता/१८८२ ई.) में छपा। इसके साथ मैथिली की संक्षिप्त शब्दावली भी है। शब्दावली में अधिकांश शब्द संकलित साहित्य से ही हैं। मैथिली के शब्दों का अंग्रेजी अर्थ देकर एक तरह से मैथिली-अंग्रेजी शब्दकोश ही दे दिया है। इस शब्दकोश में मैथिली के शब्द देवनागरी लिपि में हैं। पुस्तक में आदर्श, प्रचलित और विकृत मैथिली के रूप मिलते हैं। 'अथ गीत राजा सलहेसक कथा' विकृत मैथिली का रूप है। फतूरी लाल की कविता (कवित्त अकाली) प्रचलित मैथिली का उदाहरण है और विद्यापति का पद आदर्श मैथिली का। तीनों का समय एक नहीं है। सलहेस की कथा लोक गीत है। इसका समय निर्धारित करना मुश्किल है। फिर भी, अति पिछड़ी जातियों में प्रचलित मैथिली का एक रूप मिलता है। विद्यापति का समय १३६०-१४४० ई. का है। हर्षनाथ झा को आधुनिक मैथिली साहित्य के प्रारम्भिक समय का कवि माना जाता है। ग्रियर्सन ने इन्हें वैष्णव कवि माना है जो विद्यापति की शैली के गीत लिखते थे। एक तरह से उन्होंने मैथिली के प्रारम्भिक रूप से आधुनिक समय तक के रूप को लिया है। उनके भाषा चिन्तन का वैशिष्ट्य साहित्य-रूपों का उदाहरण देकर भाषिक संरचना या बनावट का विश्लेषण करने में निहित है। ग्रियर्सन ने भाषा सर्वेक्षण के मैथिली खंड (खंड ५/२) दरभंगा तथा भागलपुर जिला के उत्तरी और पूर्णिया के पश्चिमी क्षेत्रों के ब्राह्मणों में प्रचलित मैथिली को आदर्श माना है। 'एन इंट्रोडक्शन टू दी मैथिली लैंग्वेज' में संकलित साहित्य में ऊँची और पिछड़ी जातियों में प्रचलित मैथिली के रूपों का पता चलता है। एक बोली या भाषा के अनेक रूपों का होना स्वाभाविक है। सर्वेक्षण में चर्चा है कि मुजफ्फरपुर और चम्पारण की बोली अवधी के बहुत निकट है। मुसलमानों में प्रचलित बोली शेखई या मुसलमानी कहलाती है। कहीं-कहीं इसे जोलहा भी कहा जाता है। उत्तर बिहार के इलाके में बोली की अनेकरूपता मध्यकाल विशेषकर पूर्व मुगल काल में कृषक जीवन और समाज में सीमित बाजार को दर्शाती है। विद्यापति और फतूरी लाल के समय तक की सामाजिक व्यवस्था का समय बहुत लम्बा है। इतिहासकार प्रो. राधाकृष्ण चौधरी (विद्यापतिः अनुशीलन एवं मूल्यांकन/सं.) मिथिला को स्वतंत्र राज्य मानते हैं। उनके अनुसार राजा शिव सिंह (१३६२ ई.) और उनके भाई के सुपुत्र भैरव सिंह ने चाँदी के सिक्के चलाए थे। इस दृष्टि से मिथिला को स्वतंत्र राज्य माना जा सकता है। स्वतंत्र

राज्य से मिथिला में किसी गणतंत्र के होने का अनुमान लगाना अनुचित होगा। तुगलक वंश के संस्थापक गयास-उद्दीन-तुगलक (१३२०-२५ ई.) के समय तिरहुत (त्रिहुत) को दिल्ली में मिला लिया गया था। कुछ ही वर्षों बाद लगभग १३२५-५१ ई. की अवधि में पूरे भारत में राजनैतिक विश्रृंखलता आयी थी और अनेक हिन्दू और मुस्लिम शासक स्वाधीनता की घोषणा कर चुके थे। १३५१ ई. में तुगलक वंश ने मिथिला में कामेश्वर को हटाकर भोगीश्वर को 'सामंत नृपति' का पद दिया था। भोगीश्वर की मृत्यु के बाद उनका पुत्र गअनेस राजा हुआ। असलान नाम के किसी व्यक्ति ने गअनेस की हत्या कर दी। 'कीर्तिलता' में इसका उल्लेख आया है। 'कीर्तिलता' से ही ज्ञात होता है कि १४००-०२ ई. में मिथिला के एक हिस्से पर असलान का अधिकार हो चुका था। इब्राहिम शाह (जौनपुर) के तिरहुत अभियान के समय कीर्ति सिंह ने असलान को व्यक्तिगत युद्ध में पराजित किया था। राधाकृष्ण चौधरी ने सही लिखा है कि मैथिल-समाज सामंतवादी आधार पर टिका था। मध्यकालीन सामंतवादी समाज के सारे दोष यहाँ मौजूद थे। छोटे-बड़े सामंतों की बड़ी-बड़ी उपाधियाँ थीं, महासमंताधिपति, महासामंत, महामंडलेश्वर, सामंत इत्यादि। विद्यापति की रचना लिखनावली (संस्कृत/१४६८ ई.) में सामंतों की उपाधियों का उल्लेख हुआ है। 'अथाधःकक्ष लिखनानि' वाले अध्याय में उपाधियाँ आयी हैं, महासामंताधिपति, महामत्तक इत्यादि। पिछड़ी जातियों के दोहन का विवरण भी है। उसी अध्याय के प्रारम्भ में ही चर्चा है कि अपने और अपने परिवार के हित के लिए राजा को निरंतर कर देना न भूलें अन्यथा हाथी, घोड़ा और पैदल सेना उसके पूरे परिवार को कुचल देगी, धूल-धूसरित कर देगी। यमलोक पहुँचने में थोड़ा भी समय नहीं लगेगा। मिथिला में सामंतों की अपनी सेना थी। लिखनावली के ही 'अथ व्यवहारलिखनानि' अध्याय के शुरू में 'बिहाऊ प्रथा' का ब्यौरा मिलता है। किसी व्यक्ति को छह रुपए, किसी की घरवाली को चार रुपए और किसी के पुत्र को तीन रुपए में अमुक-अमुक समय के लिए बेच दिया गया। इनमें शूद्र-शूद्रियों की संख्या ही अधिक थी। विद्यापति के समय के किसी साहित्य में शूद्रों के विद्रोह की चर्चा बहुत कम मिलती है। 'स्कंदपुराण' में इसका उल्लेख मिलता है। यह साहित्य ६००-१३०० ई. के बीच का माना जाता है। पूर्व मध्यकाल में ग्रामीण आबादी का तबादला तेजी से होने लगा था। इसके पीछे एक कारण अकाल था और दूसरा कारण करों का बढ़ता हुआ बोझ। शूद्रों के विद्रोह की चर्चा या उसका उल्लेख विद्यापति के साहित्य में भी नहीं मिलता है। विद्यापति का समय १४वीं शताब्दी का है। उस समय खेती में पर्याप्त प्रगति के बावजूद सुदृढ़ वर्ण व्यवस्था पूरे सामंतीय आर्थिक ढाँचे को प्रभावित कर रही थी। वर्णरत्नाकर के पहले ही भाग में उल्लेख है कि बंजर भूमि को जोतने के लिए शूद्रों को काम में लगाया जाता था। मिथिला में खेती को बढ़ाने पर जोर था। परंतु सामंतों की जितनी कोटियाँ थी यानि उनका जिस रूप में संस्तरीकरण (स्ट्रैटिफिकेशन) था, उससे अनुत्पादक पूँजी बेहिसाब बढ़ रही थी। बड़ा बाजार बनने का रास्ता संकीर्ण हो रहा था। सामंतों के अपने सिक्के चलाए जाने की चर्चा है लेकिन सवाल है कृषि उत्पादन के मूल्य में बदलने को लेकर। आम तौर पर पूँजी की एक मंजिल पूँजी के उत्पादन-प्रक्रिया की होती है। ज्योतिरीश्वर ठाकुर और विद्यापति के साहित्य से मिथिला में कृषि की प्रगति का उल्लेख मिलता है। उत्पादन को पूँजी में बदलने के लिए और सरल कहें मुनाफा बनाने के लिए बड़े बाजार की जरूरत होती है। मध्यकाल के पूर्ववर्ती दौर में मिथिला में इसका सीमित क्षेत्र था। लोग अपने क्षेत्र से बाहर व्यापार करने जाते थे लेकिन कुल मिलाकर मिथिला की सामंती व्यवस्था में ठोस संस्तरीकरण विकास में बाधक बना। विद्यापति बहु विवाह के विरोधी थे। वर्ण व्यवस्था से बहुत विरोध नहीं था। शूद्रों की दुर्दशा को देख रहे थे। उस पर लिख भी रहे थे।

उनके साहित्य का एक पक्ष मिथिला का समाज रहा है। राज दरबारों से सम्बद्ध होने के कारण भी वे शूद्रों की दुर्दशा और किसानों की दयनीय स्थिति बहुत नहीं लिख सके थे। जाति प्रथा पहले से सुदृढ़ थी ही। हरि सिंह देव (१३२४ ई.) के आने के बाद पंजी प्रथा का चलन शुरू हुआ जिसके फलस्वरूप बिकौना प्रथा चली। विद्यापति की रचना 'कीर्तिलता' में इसका विवरण मिलता है। विद्यापति के समय का मिथिला राज्य स्वतंत्र होते हुए भी बहुत सुखी-सम्पन्न नहीं था। करों की उगाही में बहुत सख्ती थी। मुसलमानों के आने के बाद के रचित कई साहित्य में यह चर्चा है कि वैश्य और शूद्र मूलतः करदाता थे। 'लिखनावली' में आये ब्यौरे से करों के निश्चित न होने से शूद्रों में असंतोष रहा होगा। जो विवरण 'कीर्तिलता' में आया है, उससे मिथिला के अराजक समाज की स्थिति लम्बे समय से चली आ रही थी। सामाजिक परिवर्तन हो रहे थे। विद्यापति के बोल (कीर्तिलता) हैं, 'जाति अजाति विवाह, अधम उत्तम काँ पारक' (जाति-अजाति में विवाह होने लगे थे। अधम ने उत्तम पर श्रेष्ठत्व प्राप्त कर लिया था)। अजाति से अभिप्राय निम्न जातियों यानी शूद्र से है। अधम से भी वही अभिप्राय है। इस वर्णन से मिथिला में राजनैतिक अस्थिरता के बावजूद या इसी कारण भी सामाजिक परिवर्तन हो रहा था। राजनैतिक अस्थिरता के बावजूद या इसी कारण भी सामाजिक परिवर्तन हो रहा था। राजनैतिक अस्थिरता वाली स्थिति पूरे देश की थी। इसलिए मिथिला कोई अपवाद नहीं था।

ग्रियर्सन ने अपने विद्यापति विषयक लेख में उनके समय की सामाजिक दशा की चर्चा नहीं की है। एक कारण विद्यापति की कुछ कृतियों का उनके समय तक अभाव रहा है। 'भू-परिक्रण' की हस्तलिखित प्रति बंगाल एशियाटिक सोसायटी में थी। 'पुरुष परीक्षा' १८३० ई. तक अंग्रेजी में अनूदित (राजा काली कृष्ण बहादुर) हो चुकी थी। इसके कुछ वर्ष पहले हर प्रसाद राय ने इसका बँगला में अनुवाद (१८१५ ई.) किया था। ग्रियर्सन मैथिली और बँगला के जानकार थे। उनके लेख में इसकी चर्चा होनी चाहिए थी। फिर भी, उन्होंने ईमानदारी से बँगला में चर्चित विद्यापति और उनकी नकल करने वाले कवियों की चर्चा कर बँगला के विद्यापति के रहस्य को सार्वजनिक किया है। उनके अनुसार जैसोर (बंगाल) के बसंत राय विद्यापति के नाम से लिखते थे। उनकी मैथिली मिश्रित बँगला न तो बँगला थी और न मैथिली। धीरे-धीरे इस तरह के प्रयोग में कोई नयापन नहीं आया। मिथिला का समाज बिल्कुल अराजक हो चुका था। 'कीर्तिलता' के दूसरे अध्याय में चर्चा है कि मिथिला के राजा गणेश्वर की हत्या के बाद सर्वत्र अराजकता फैल चुकी थी। भृत्य (गुलाम) अक्सर अपने स्वामियों को पकड़ लिया करते थे। सारे काम-धंधे चौपट हो चुके थे। जाति-कुजाति में शादियाँ होने लगी थीं। कविगण भिक्षाटन करते थे। विद्यापति के अनुसार राजा गणेश्वर के स्वर्गवासी होने के बाद 'तिरहुत के सभी गुण तिरोहित हो गये (तिरहुत्ति तिरोहित सब्ब गरोस जब सग्ग गउँ)।' विद्यापति कीर्ति सिंह के साथ जौनपुर गये थे। 'कीर्तिलता' में कीर्ति सिंह के इब्राहिम शाह को समझाने या उन्हें अपने तर्क से सहमत करने का पक्ष बहुत प्रबल है। तीसरे पल्लव में कीर्ति सिंह कहते हैं कि दो राजाओं की एक पृथ्वी और दो पुरुषों की एक नारी, दोनों का भार नहीं सह सकती। विद्यापति की इस कृति को ज्ञान के किसी एक अनुशासन से नहीं नवाज़ा जा सकता है। यह चरित काव्य भी है। यात्रा वृत्तांत भी है। संस्मरण भी है और अपने समय के इतिहास का सार-संकलन भी है। साहित्य और इतिहास का ऐसा विलय विरले मिलता है। 'कीर्तिलता' अवहट्ट या अवहट्ठ में लिखा यथार्थपरक चरित काव्य है। अवहट्ट का प्रथम प्रयोग ज्योतिरीश्वर ठाकुर (वर्णरत्नाकर/१३२५ ई.) में मिलता है। उस समय की राज सभाओं में भाट छह भाषाओं का प्रयोग करते थे, संस्कृत, प्राकृत, अवहट्ट, पैशाची, शौरसेनी और मागधी। दूसरा

प्रयोग विद्यापति की कृति 'कीर्तिलता' है जिस भाषा को वे देशी वचन कहते हैं। 'कीर्तिलता' एक यात्रा वृत्तांत भी है जिसमें अतिरंजना से काफी बचा गया है। हुआ ये कि कुछ लोग जो विद्यापति के नाम से या उनका अनुकरण करते थे, वे बँगलाभाषियों के बीच अधिक लोकप्रिय होते गये। इनमें चंडी दास और विद्या सुन्दर प्रमुख हैं। इस तरह कूट या नकली (स्पूरियस साँग्स) गीत बँगला भाषियों में अधिक लोकप्रिय होने लगे। ग्रियर्सन की सूचना है कि १८७८-७९ में बँगला में प्रकाशित प्राचीन काव्य संग्रह की श्रृंखला में अक्षयचन्द्र सरकार द्वारा बँगला कविताओं का संकलन आया जिसे वे बेमेल (हेट्रोजीनस) कहते हैं। इसी का संशोधित संस्करण सारदा चरण मित्र (१८७८-७९ ई.) द्वारा प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका में उन्होंने विद्यापति को विस्फी (पुराना दरभंगा जिला) इलाके का निवासी बताया। ग्रियर्सन सारदा चरण के द्वारा सम्पादित पदों को विद्यापति का पद मानते हैं लेकिन उनका यह भी मत है कि बहुत सावधानीपूर्वक इन पदों के अध्ययन के बाद मुश्किल से पाँच या छह पदों को विद्यापति की मूल रचना मान सकते हैं। इनमें भी हेर-फेर या विकृति आयी है। विशेषकर गेयता की दृष्टि से मैथिली के छन्दों का अनुसरण नहीं मिलता है। 'इंडियन एंटीक्वेरी' (अक्तूबर, १८७५ ई./बम्बई) में छपे जॉन बीम्स के विद्यापति विषयक लेख में बँगला में विद्यापति के पाठ संशोधन का विवरण लेख में बँगला में विद्यापति के पाठ संशोधन का विवरण आया है। ग्रियर्सन स्वीकार करते हैं कि वैष्णव सम्प्रदाय के इस कवि के पदों को यूरोपीय नियम और स्वाद से नहीं देखा जा सकता है। उनके छन्दों में ब्रजभाषा के छन्दों का मिजाज़ भी अनुकूल नहीं बैठता। छन्दों को लेकर फिलहाल कुछ कहना मुश्किल है। यों ग्रियर्सन ने स्वयं ही विद्यापति के छन्दों के लिए कुछ कॉलम बनाये। चर्चा फिर कभी। फिलहाल कहना है कि ग्रियर्सन ने ही बँगला में विद्यापति की चर्चा का रहस्य बताकर और उनकी वंशावली का ब्यौरा देकर मैथिली साहित्य के इस महाकवि का अंतरप्रान्तीय महत्व भी समझा है।

ग्रियर्सन के समय में ही (१८७२-७३ ई.) बँगला में विद्यापति की काव्य प्रतिभा को खोजने का काम रामगति न्यायरत्न ने किया। बँगला के एक अन्य लेखक राजकृष्ण मुखोपाध्याय (१८७५ ई.) ने विद्यापति को मैथिली का कवि घोषित किया। मुखोपाध्याय के 'विद्यापति' शीर्षक से बंगदर्शन में प्रकाशित लेख का अंग्रेजी अनुवाद इंडियन एंटीक्वेरी (अक्तूबर, १८७५ ई.) में छपा। यह मानना उचित नहीं है कि बँगला में जो कवि विद्यापति की नकल कर रहे थे, वे उनके प्रति कोई गहरी आस्था रखते थे। श्री पदकल्पतरु में बसंत राय के इक्यावन पद संकलित हैं। राजकृष्ण मुखोपाध्याय के लेख के छपने के बाद श्री पदकल्पतरु का प्रकाशन हुआ। विद्यापति को मैथिली का कवि घोषित होने के बाद उनकी नकल पर कविता लिखे जाने का जोर बढ़ा। इसे विद्यापति का प्रभाव तभी तक माना जाता जब बँगला के कवि विद्यापति के नाम से नहीं लिखते। प्रभाव और नकल के अंतर को समझना चाहिए। मैथिली मिश्रित बँगला या बँगला मिश्रित मैथिली विद्यापति की भाषा नहीं थी। वे आदर्श मैथिली में लिख रहे थे। फिर कई भाषाओं के इतने बड़े विद्वान की भाषा की नकल पर दूसरी भाषा बना या गढ़ लेने की ज़िद क्यों?इससे विद्यापति की लोकप्रियता का पता चलता है। ग्रियर्सन ने ठीक ही लिखा है कि बँगला में विद्यापति के गीतों को विकृत भी किया गया है और बँगला से बलपूर्वक समता दिखाने की भी कोशिश हुई है। विद्यापति की लोकप्रियता से चिढ़कर ऐसा होना स्वाभाविक था या बँगला को भी एक विद्यापति चाहिए था?ऐसा भी नहीं है कि इस दिशा में बंगाल प्रेसिडेंसी की कोई भूमिका रही हो। विदित है कि १८०० ई. के बहुत पहले से बंगाल में विद्यापति लोकप्रिय थे। उनके पद गाए जाते थे। १८०० ई. के बाद बँगला के कुछ नये कवियों को नयी भाषा गढ़ने और विद्यापति की तर्ज़ पर कविता लिखने की धुन सवार

हुई होगी। एक आश्चर्य यह भी कि विद्यापति के साहित्य की खोज और विश्लेषण का काम जिन विद्वानों ने किया, उनमें अधिकांश मैथिली भाषी नहीं थे। डॉ. सुकुमार सेन (विद्यापति गोष्ठी), खगेन्द्रनाथ मित्र, विमान बिहारी मजुमदार, हरप्रसाद शास्त्री, सारदा चरण मित्र, बाबूराम सक्सेना, शिव प्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी आदि। आजादी के बाद के दिनों में इतिहासकार विमान बिहारी मजुमदार का विद्यापति-अनुराग ही था कि वे 'जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी', 'पटना यूनिवर्सिटी जर्नल' और 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में इनकी बहुमुखी प्रतिभा पर निरंतर लिखते रहे। प्रो. विमान बिहारी कई विषयों के विद्वान थे, भाषा-अध्ययन, धर्म नीति, इतिहास, विज्ञान इत्यादि। पचास के दशक में वे 'राष्ट्रविज्ञान परिषद' के सभापति भी बने थे। इनमें कुछ बँगला भाषी थे, कुछ अवधी और ब्रजभाषा के जानकार थे। बेनीपुरी मिथिला के निवासी थे। तीस के दशक में बेनीपुरी जी ने विद्यापति के पदों का संकलन (विद्यापति की पदावली) किया। उस किताब के समर्पण में कवि देव, बिहारी, तुलसी और केशव की श्रेष्ठता में उलझे समालोचकों से विद्यापति को भी स्थान देने के निवेदन जैसे भाव में आक्रामकता भी छुपी है। आलोचकों के लिए उनके शब्द हैं 'जो अपने फतवे को अकाट्य और अलंघनीय साबित करने के लिए 'नवरत्न' में दस रत्न घुसेड़ सकते हैं।' मैथिली और हिन्दी में परस्पर विरोध जताने वालों के लिए यह कुछ खास है जहाँ विद्यापति अंतर-प्रांतीय नायक के रूप में दिखते हैं। बेनीपुरी के इस टिप्पणी-संकलन की ख़बर लाहौर से प्रकाशित अंग्रेजी पत्र (दी पीपुल) ने ली थी। बेनीपुरी मिथिला के जन-जन में बसे इस महान् नायक का स्मरण करते हैं। लिखा है कि शिव का पुजारी डमरू हाथ में लिए 'कखन हरब दुख मोर हे भोला नाथ' गाते-गाते तन्मय हो जाता है, अपने आपको भूल जाता है। नव-वधू को कोहबर में ले जाती हुई कामिनियों का समूह विद्यापति के गीत में खो जाती है, 'सुन्दर चलिलहुँ पहु-घर ना, जाइतहि लागु परम डर ना।' प्रो. खगेन्द्रनाथ मित्र और प्रो. विमान बिहारी मजुमदार ने विद्यापति के लोकमुख से पदों को एक जगह संकलित कर उसका अनुवाद भी प्रस्तुत किया। मित्र और मजुमदार जी के साथ हरेश्वरी प्रसाद ने मिलकर विद्यापति को क्रमवार संकलित और शब्दार्थ और व्याख्या करने का काम उस दौर (१९५३ ई.) में किया जब मिथिला में हिन्दी बनाम मैथिली का जोर पकड़ा था और कई सुधी जन मैथिली को हिन्दी की बोली मानने से इनकार कर रहे थे। उन दिनों मित्र जी कलकत्ता विश्वविद्यालय में थे, मजुमदार जी कॉलेज इंस्पेक्टर (पटना) थे और हरेश्वरी प्रसाद पटना में अध्यापक थे। तीनों की यह टीम विद्यापति के साहित्य का अंतर्देशीय महत्व समझ रही थी। बँगला के प्राध्यापक खगेन्द्रनाथ मित्र ने विमान बाबू (विद्यापति) के बारे में लिखा कि वे विद्यापति के पदों का संग्रह, पाठ-उद्धार और-निर्धारण तीनों काम कर रहे थे। विद्यापति के पदों का प्राचीन संग्रह नेपाल दरबार के पुस्तकालय में था। नगेन्द्रनाथ गुप्त के अनुरोध पर हर प्रसाद शास्त्री ने नेपाल सरकार से वहाँ के पुस्तकालय में सुरक्षित विद्यापति के पदों की प्रति मँगवायी। गुप्त जी ने इन पदों को बँगला में प्रकाशित किया। लम्बे समय बाद खगेन्द्रनाथ मित्र और विमान बिहारी मजुमदार के सम्पादन में विद्यापतिर पदावली प्रकाशित हुई। प्रो. सुभद्र झा के सम्पादन में नेपाल दरबार के पुस्तकालय में सुरक्षित विद्यापति की पदावली का प्रकाशन सॉंग्स ऑफ विद्यापति नाम से हुआ। बँगला समाज में विद्यापति के पदों को लाने का श्रेय राजेन्द्रलाल मित्र (विविधार्य संग्रह/१८५९) और आगे चलकर रामगति न्यायरत्न को है। विद्यापति और चंडीदास दोनों समकालीन थे। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का एक लेख इसी विषय पर है, 'चंडीदास और विद्यापति' निराला ने भी इसी शीर्षक से निबंध लिखा था जो उनके निबंध संकलन 'प्रबंध प्रतिमा' में संकलित है। श्री पदकल्पतरु में दोनों के मिलने की

चर्चा है। कबीर और तुलसी के पहले अहिन्दी भाषी क्षेत्रों में भी लोकप्रिय होने वाले कवि विद्यापति ही थे।

ग्रियर्सन के संकलित पदों में श्रृंगारिक अधिक हैं। इसे लेकर हिन्दी साहित्य के इतिहास में चर्चा रही है कि इन्हें भक्त कवि माना जाए या श्रृंगारिक। स्वयं ग्रियर्सन ने विद्यापति वाले निबंध में इस पर विचार किया है। उन्होंने लिखा है कि यूरोप की रुचि से इस पर विचार करना उचित नहीं है। या ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है कि आत्मा-परमात्मा के प्रेम के लिए वेश्यालय की भाषा (ब्रॉथेल टू डिस्क्राइब) का सहारा लिया गया है। उनके अनुसार पश्चिम देश के रहने वाले ईश प्रेम को पिता और पुत्र के अटूट प्रेम का रूप देकर संतुष्ट रहें, गर्म देश के सत्यान्वेषियों के लिए पूजक और पूज्य के सर्वश्रेष्ठ प्रेम को राधा और कृष्ण का रूप दिया है। आम हिन्दू विद्यापति के पदों को उसी प्रकार पढ़ते हैं जिस प्रकार सोलोमन के गीतों को ईसाई पादरी पढ़ते हैं। इससे सहमत होना मुश्किल है। ईसाई भक्ति में पिता और पुत्र का सम्बन्ध ठंडे प्रदेश के होने के कारण नहीं है। जिस दौर में चर्च प्रभुओं की सत्ता थी, प्रभु या पिता के रूप में उनका वर्चस्व था। भारत में भी जमींदारों को ईश्वर या पिता मानने का चलन था। गर्म प्रदेशों में श्रृंगारिक प्रवृत्ति ईश्वरीय साधन का रूप में ही प्रतिफलित हुई हो, ऐसा नहीं है। सूरदास विद्यापति के समकालीन थे। सूर में ईश्वर को दयालु कहा गया है, 'तू दयालु, दीन हौं, मैं पातकी भिखारी।' कबीर भी लगभग उसी समय के हैं। कबीर में ईश्वर का रूप बराबरी का है, भक्त और ईश्वर एक समान। विद्यापति का समय निर्गुणवादियों का था। निर्गुण में आत्मा और परमात्मा को स्त्री-पुरुष के रूप में देखा जाता था। मुख्यतः वह स्त्रीत्व और पुरुषत्व का द्योतक था। यों, विद्यापति कोई रहस्यवादी कवि नहीं थे। उनकी कई रचनाएँ रहस्यवाद के दर्शन से प्रेरित जान पड़ती हैं। कुछ विद्वान 'कामिनि करए सनाने/हेरतहिं हृदय हनए पंचवाने' को रहस्यवादी मान लेते हैं। यह पद ग्रियर्सन के संकलन में भी है, कामिनि करु असनाने। हेरइत हिर्दय पचमाने। तितल बसन तन लागु।..... चिकुर बहै जल धारे। जनि शशि बिनु मोहि लागत अन्धारे। सुन्दरी स्नान कर रही है। ऐसे समय में देखना भयकारक है। देखते ही वह कामदेव के पाँचों बाण (पँचवाने) से मारती है। यों, इस पद के साथ एक घटना जुड़ी है। राजा शिव सिंह को दिल्ली के सुल्तान ने अपने यहाँ कैद कर लिया। विद्यापति सुल्तान के दरबार में गये और अदृष्ट वस्तु के दृष्टवत वर्णन करने का दावा किया। सुल्तान ने विद्यापति की परीक्षा ली और एक सद्यःस्नाता सुन्दरी का वर्णन करने को कहा। तभी विद्यापति यह पद गाने लगे। सुल्तान इससे भी संतुष्ट नहीं हुआ। उसने विद्यापति को एक काठ के बक्से में बंद कर दिया। बक्से को कुएँ में लटका दिया। आदेश दिया कि कुएँ के ऊपर जो कुछ है, विद्यापति उसका वर्णन करे। वे संदूक के भीतर से गाने लगे, 'सजनि निहुरि फुकु आगि।/तोहर कमल भमर मोर देखल, मदन उठल जागि।' विद्यापति के इस कवित्व से सुल्तान बहुत प्रसन्न हुआ और उसने शिव सिंह को मुक्त कर दिया। यहाँ विद्यापति की श्रृंगारिकता प्रवृत्तिवश नहीं हैं राज दरबार से जुड़े कवियों के लिए श्रृंगारिकता विवशता भी थी। शिव सिंह विद्यापति के सखा भी थे और आश्रयदाता भी। उन्हीं के आदेश से विद्यापति ने पुरुष परीक्षा और कीर्तिपताका की रचना की। उन्हें राज्याश्रय कई राजाओं का मिला। राजा शिव सिंह और लखिमा देवी के साथ उनकी घनिष्ठता थी। राज दरबार से जुड़े कवियों की श्रृंगारिकता दरबार पोषक थी। आगे के दरबारी कवियों में बिहारी के यहाँ भी श्रृंगारिकता का वही रूप मिलता है। तुलसीदास दरबार के कवि नहीं थे। अकबर के लाख बुलाने पर भी राम कथा की डोर पकड़े रहे। उन्हें डर था कि कहीं उनके राम अकबर के दरबार में कैदी न हो जाएँ। उनके समय में राजनैतिक स्थिरता भी थी। विद्यापति के समय की आपा-धापी नहीं

थी। मध्यकाल के भक्त कवियों की श्रृंगारिकता की एक परम्परा रही है जिसकी ओर डॉ. शिव प्रसाद सिंह ने 'श्रृंगार और भक्ति' अध्याय में ध्यान आकृष्ट किया है। श्रृंगारपरक रचना का प्रारम्भ प्राकृत काल (४००-५०० ई.) से माना जाता है। उसका कारण विभिन्न जातियों का मिश्रण था। उत्तर-पश्चिम से आयी विदेशी जातियाँ यहाँ के सम्पर्क में आयीं। शिव प्रसाद सिंहजी के अनुसार हूण और आभीरों के आगमन के बाद 'मध्य देश की प्राकृत भाषा इनके सम्पर्क और प्रभाव से नये रूप में विकसित हुई और इनकी स्वच्छन्द शौर्य और रोमांस की प्रवृत्ति ने इस भाषा के साहित्य को भी प्रभावित किया।' इसलिए भक्ति और श्रृंगारिकता साथ-साथ चली। ग्रियर्सन के संकलन में विद्यापति के कुल ८२ पद संकलित है। कुछ पद ऐसे हैं जिसकी श्रृंगारिकता प्राकृत साहित्य की परम्परा का स्मरण कराती है। उनमें श्रृंगार की उन्मुक्तता है। प्रकृति से उपमाओं का चयन करने के कारण इसमें भक्ति का रंग महसूस होता है। एक पद 'अथ श्री राधाक रूप' शीर्षक से है। 'माधव कि कहब सुन्दरि रूपे/पल्लवराज चरन जुग सोभित' (माधव, सुन्दरी के रूप का वर्णन क्या करूँ। उनके दोनों चरण कमल के समान शोभित हैं)। नायक से दूति का वचन है, 'गति गजराजक भाने/कनक केदलि पर सिंह समारल/तापर मेरु समाने।' गजराज की तरह मस्त चाल। सोने के केले के स्तंभ जैसी जाँघ और उस पर उभरा वक्ष स्थल मेरू यानी पर्वन के समान हैं। स्त्री पूजा की परम्परा रही है। प्राकृत से पहले के साहित्य में भी स्त्री पूजा की परम्परा थी। खगेन्द्रनाथ मित्र और विमान बिहारी मजुमदार के संकलन में एक अध्याय मिथिला में लोकमुख से संगृहीत पदों का है जिनमें कई पद श्रृंगारिक हैं। विवाह के अवसर पर मिथिला में गाए जाने वाले गीतों की अच्छी संख्या है। मिथिला में विवाह का आयोजन एक महीने से अधिक का ही होता है। इस या दूसरे अवसरों पर भी गाए गीतों लोक गीतों में श्रृंगारिक गीत भी हैं। हर भाषा में ऐसे गीत होते हैं। मिथिला के लोक गीतों में श्रृंगारिकता का अनुपात अधिक हो सकता है। लोक में प्रचलित विद्यापति के गीतों के मित्र और मजुमदार जी के संकलन में एक गीत है, 'रयनि सनागलि रहलछिय थोर। रमनि रमन रतिरस नहि ओरा' (रात्रि शेष हुई, अल्प रह गयी; रमणी-रमण के रतिरस की सीमा नहीं रही)। दूसरा गीत है, 'कहु सखि कहु सखि रातुक रंग/ कतेक दिवस पर पहुक प्रसंग।' (हे सखि, रात्रि का रंग यानी विलास की कथा कहो। कितने दिनों बाद प्रभु के संग प्रसंग हुआ)। इनमें बेनीपुरी, नगेन्द्रनाथ गुप्त और मिथिला गीत संग्रह ही मुख्य स्रोत है। मतलब यह कि मिथिला के समाज में बहुत पहले से विद्यापति के गीतों को गाने का चलन रहा है। फिर भी, स्त्री के अंग-प्रत्यंग का वर्णन करने की प्रवृत्ति श्रृंगारिक से ज्यादा दरबारी है। इस अर्थ में भक्त कवियों की श्रृंगारिकता सामंती संस्कार लिए थी। राजाओं के मनोरंजन के लिए ऐसे पद लिखे जाते रहे हैं। संकलन के अंतिम दो पद हैं, 'मैना कृत शिव वर्णन और उमा सखी कृत शिव वर्णन बिबाह समय', 'घर घर भरमि जनम नित/तनिकाँ केहन बिबाह/ से अब करब गोर बर/ ई होए कतए निबाह।' शिव जो हमेशा घर-घर विचरण करते हैं, उनका विवाह कैसे हो सकता है?गौरी से विवाह करने की बात चल रही है। इसे कैसे अनुमति दी जा सकती है?आगे प्रश्नों की झड़ी है। शिव का घर कहाँ है?उनका आँगन कहाँ है?उनके माता-पिता कौन हैं?उनको दामाद कौन बनाएगा?

विद्यापति ने शिव, विष्णु समेत कई देवताओं की स्तुति की है। मिथिला के समाज में कैसी भी पूजा हो, इस अवसर पर पंच देवता (भवानी, गणेश, ब्रह्मा, विष्णु और महेश) की पूजा का रिवाज है। विद्यापति की धार्मिक उदारता कहें या विभिन्न सम्प्रदायों के बीच समन्वय स्थापित करने की उनकी व्यापक दृष्टि कि उन्होंने प्रायः सभी देवताओं की वन्दना की है। उनके एक पद में

शंकर और विष्णु के अभिन्न स्वरूप का वर्णन आया है, 'भल हर भल हरि भल तुअ कला/ खन पित बसन खनहि बघछला/ खन पंचानन खन भुजचारि/ खन शंकर खन देव-मुरारि/खन गोकुल भए चरावथि गाय/ खन भिखमांगिय डमरू बजाए।' (हर अच्छे, हरि अच्छे, तुम्हारी लीला अच्छी। क्षण में जीत वसन। क्षण में बघछाला। कभी पंचानन, कभी चतुर्भुज, कभी शंकर, कभी देव मुरारि। क्षण में गोकुल में गौएँ चराते और क्षण में डमरू बजा कर भाख माँगते हो)। एक स्थल पर वे मातृ रूप में ब्रह्म को याद करते हैं, 'विदिता देवी विदिता हो, अविरल-केस सोहन्ती।/एकानेक सहस को धारनि, अरिरंगा पुरनन्ती।/कजल रूप तुआ काली कहिए, उजल रूप तुअ बानी/रबिमंडल परचंडा कहिए, गंगा कहिए पानी।' (हे घनकेश शोभिनि देवि, तुम ज्ञान में समा जाओ। तुम अकेली ही हजारों को धारण करती हो। मानो युद्ध स्थल में नगर-नर्तकी के समान सहज ही नृत्य करती हो। तुम काले रंग में काली नाम से परिचित हो और उज्जवल में वाणी अथवा सरस्वती। सूर्यमंडल में तुम प्रचंडा और जल रूप में गंगा कही जाती हो)। कहीं पुरनटी भी है और कहीं 'जनि रंगा' भी। 'पुरनटी' या 'पुरनन्ती' का अर्थ नगर नर्तकी से है। रंगा का अभिप्राय युद्ध-स्थल से है। जरि पुरनन्ति का अर्थ है शत्रु के साथ युद्ध में अपनी विभूति से हजारों सैनिक उत्पन्न कर के युद्ध-स्थल पूर्ण करती है। युद्ध क्षेत्र में नगर नर्तकी के समान ही सहज नृत्य करती है। ग्रियर्सन साहब के संकलन में गंगा की स्तुति (गंगाक स्तुति) भी है, 'कत सुख सार पाओल तुअ तीरे।/छाड़इत निकट नयन बह नीरे/कर जोरि बिनमओं बिमल तरंगे/पुनु दरसन होअ पुनमति गंगे।' (बड़े सुख के सार से तुम्हार तीर प्राप्त हुआ। निकट (तीर) छोड़ते समय नयन से अश्रु बह रहे हैं। हे विमल तरंगे, पुण्यवती गंगे, हाथ जोड़कर विनय करता हूँ, जिससे फिर दर्शन हो)। विद्यापति के समय सामाजिक शिथिलता अपेक्षतया अधिक रही है। इसका कारण बहुदेवोपासना ही नहीं है। विद्यापति अपने समय के कई धार्मिक सम्प्रदायों के बीच समन्वय या सामंजस्य चाहते थे। विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना के पीछे यह भी एक कारण है। विद्यापति की रचना भू-परिक्रमण गणेश, विष्णुदेव, सूर्य, अम्बिका के नमन से प्रारम्भ होती है। बहुदेवोपासना का एक आधार भक्त की कल्पना का विस्तार था। दूसरा सामाजिक आधार भी था। कृषि आधारित सामंती व्यवस्था में उसे ईश्वर मानने का चलन था। यह चलन यूरोप में भी था, अरब में भी था। सत्ता पर धर्म के काबिज होने के बाद खुद सामंत ही स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि मानने लगे। अब दरबारी कवि उनकी शान में या उन्हें रिझाने के लिए जो कहें, राधाकृष्ण की उपासना करें, लीला करें या रूठे राजों को मनाने के लिए ईश्वरीय विधान के भीतर श्रृंगार की झड़ी लगा दें। विद्यापति के पदों में राधाकृष्ण का मानवी रूप मिलता है जैसे सूरदास में है। ग्रियर्सन के संकलन 'माधब कि कहब सुन्दरि रूपे।' पद की चर्चा हो चुकी है। सूर भी अपने एक पद (अदभुत एक अनूपम बाग/जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग) में कुछ ऐसा ही कहते हैं। माधव के रूप इतने हैं कि क्या वर्णन करें?फिर वर्णन करने के क्रम में राधा का अंग-निरूपण। कबीर भी विद्यापति के समय के हैं। निर्गुण या निराकार ब्रह्म सहित मन्दिर-मस्ज़िद पर हमला कर उन्होंने सगुणोपासना के सामाजिक आधार को तोड़ने की कोशिश की। राज दरबारी कवियों से ऐसा करना संभव नहीं था। प्राकृत की परम्परा में भक्ति और श्रृंगार का समन्वय मिलता है। विद्यापति इसकी कड़ी हैं। जिन्होंने इस समन्वय को तोड़ा (निराकार ईश्वर) है, वे अलग विचार के साहित्य से जनता का परिचय करा रहे थे।

अक्सर कहा जाता है कि विद्यापति के समय में इस्लाम और दूसरे धर्मों के बीच समन्वय भी हो रहा था। निराकार ईश्वरोपासना के प्रचार को इस्लाम के प्रभाव के रूप में देखा जा सकता है।

परंतु 'कीर्तिलता' से इस्लाम और हिन्दू धर्मावलम्बियों के बीच दूरत्व भाव का भी पता चलता है। राजनैतिक अस्थिरता के उस दौर में दोनों स्थितियाँ रही होंगी। दूसरी स्थिति ज्यादा प्रबल रही होगी। कारण कि निराकारत्व के बावजूद धर्मान्तरण के भी संकेत मिलते हैं। द्वितीय पल्लव में जौनपुर के समरस समाज की चर्चा है। उसी अध्याय में तुर्कों के आचरण का भी वर्णन है। ब्राह्मण बटुक को पकड़ लाते और उसके माथे पर गाय का 'शुरुआ' रख देते थे। तुर्क बलपूर्वक तिलक पोंछ देते थे। जनेऊ तोड़ देते थे (धरि आनए वाभन वटुआ/मथां चड़ावए गाइक चुडुंआ/फोट चाट जनेऊ तोर)। विद्यापति के इस अवतरण में समन्वय और वैमनस्य दोनों का वर्णन है। हिन्दू और तुर्क मिल रहे हैं। किंतु साथ-साथ रहने से एक दूसरे का उपहास भी होता है। कहीं बाँग (अजान) तो कहीं विस्मिल्लाह (हिन्दू तुरके मिलल वास/एकक धम्मे अओका उपहास/कतहु बाँग कतहु वेद/कतहु विस्मिल कतहु छेद)। 'छेद' से अभिप्राय कर्ण-छेदन का है। तुर्क बलपूर्वक बेगार भी करवाते थे। जौनपुर और मिथिला के विवरण से पूरे भारत में अराजकता का पता चलता है जो तात्कालिक नहीं थी, लम्बे समय से चली आ रही थी। स्नेह और वैमनस्य दोनों के बीच लोग जी रहे थे। 'कीर्तिलता' से आम दिनचर्या में तंगी के संकेत मिलते हैं। दैनिक जीवन से लेकर भोग-विलास की सामग्री की कमी नहीं थी। तीर-कमान, गहने-जेवरात भी बिकते थे और दैनिक जीवन के सामान भी। कई हाटों का वर्णन आया है, धनहटा, सोनहटा, पक्वानहटा, मछहटा। इसलिए केवल इस्लाम और हिन्दू धर्म के समन्वय के विश्वासियों को विद्यापति के जौनपुर के वर्णन से निराशा हो सकती है। पहले भी कहा है कि 'कीर्तिलता' विद्यापति का यात्रा वृत्तांत भी है, आँखों देखा विवरण है। पूरी रचना में अतिशय काल्पनिकता नहीं मिलती है। इस कारण भी विद्यापति का वृत्तांत बहुत विश्वसनीय हो सका है। 'कीर्तिलता' में कथा कहने की मिठास भी है। कहने की एक खास अदा है जो उस काल के बहुत कम कवियों में मिलती है। जैसे, ये पंक्तियाँ देखें, 'कलीमा कहन्ता कलामे जिअन्ता/कसीदा कढ़न्ता मसीहा भरन्ता/कितेवा पढ़न्ता तुरुक्का अनन्ता।' (कोई कलीमा कह रहा है तो किसी का रोजाना कलाम ही है। कोई कसीदा पढ़ रहा है तो कोई मस्ज़िद जाता है। कोई किताब पढ़ता है। तुर्कों की महिमा अनंत है)। इस यात्रा वृत्तांत में कथा-विधान भी आदि से अंत तक नहीं है। बीच-बीच में है और दिनचर्या के विवरण भी इनका विलय खास आनन्द देने वाला है।

ग्रियर्सन के संकलन में एक पद है (५५) जिसकी कुछ पंक्तियाँ है, 'हिरा मनि मानिक एको नहिं माँगब/फेरि माँगब पज़्ह तोरा।' राधा कह रही है, मैं कोई हीरा मोती नहीं माँगती हूँ, केवल मुहब्बत माँगती हूँ, प्रेम माँगती हूँ। पद शुरू होता है 'माधव ताँ हे जनि जाह बिदेसे।' माधव मैं अपने देश के बाहर क्यों जाऊँ। भाव है कि मेरी खुशी यहीं है। पिया दूर देश में है। बहुत खोजी, नहीं मिले, 'माधव हमर रटल दुर देस। केयो न कहे साखि कुशल सनेस।' कोई भी पिया का कुशल नहीं दे रहा है। दरबारी कवियों में विद्यापति विरले हैं जिनके यहाँ श्रृंगार का सामाजिक पक्ष भी पूरी शिद्दत लिए आया है। ग्रियर्सन के संकलन में ऐसे पदों की खोज या चयन संकलनकर्ता के स्वाद को भी दर्शाता है। इस संकलन में प्रेम के अनेक रूप मिलते हैं, 'माधव बचन करिए प्रतिपाले' नायक से नायिका की प्रार्थना है, अपने वचन का पालन करने की। इसी पद में आगे विद्यापति कहते हैं, 'बड़ाक बचन कबऊ नहिं बिचलय/निशिपति हरिन उपामें।' (बड़े अपने वचन से कभी डिगते नहीं, भले चन्द्रमा और हिरण से उनका प्रेम डिग जाए।) इस पद का अंत राजा शिव सिंह और लखिमा देवी के नाम स्मरण से होता है। विद्यापति के श्रृंगार-भाव में एकरसता नहीं है। प्रार्थना में भी कुछ ऐसा ही है। माधव के अनेक रूप की तरह जीवन के भी अनेक रूप हैं।

हिन्दी के परवर्ती श्रृंगारिक कवियों में विद्यापति के इस रुझान का विकास मिलता है।

ग्रियर्सन ब्रजभाषा के प्रमुख ग्रंथ पिंगल प्राकृत सूत्र की चर्चा छन्दों के सिलसिले में करते हैं। पिंगल नाम के एक प्राचीन मुनि हुए तो छन्द के आचार्य थे। उन्हीं के नाम पर छंदशास्त्र या पिंगलशास्त्र आया। ब्रजभाषा को पिंगल भी कहा जाता है। प्राकृत पैंगलम (१३०० ई.) कृष्ण भक्ति काव्य का एक ग्रंथ है जिसमें कृष्ण भक्ति की कई रचनाएँ छंदों के उदाहरण के साथ संकलित हैं। इस ग्रंथ में कृष्ण के अतिरिक्त शंकर और विष्णु के पद हैं। स्तुतिपरक पदों में प्रणय-निवेदन भी है। शंकर और कृष्ण की एक साथ स्तुति समेत दशावतार के पद से स्पष्ट है कि विद्यापति के भक्ति और श्रृंगार में भी इसका विकास मिलता है। विद्यापति में शंकर, विष्णु तथा अनेक देवताओं की स्तुति से यह प्रतीत होता है कि उनके समय में सम्प्रदाय अलग-अलग भले रहे हों, उनमें एक समन्वय भी था जिसका विकास तुलसी के साहित्य में मिलता है। इस दृष्टि से विद्यापति में तुलसी-साहित्य के बीज भी मिलते है। ग्रियर्सन के विद्यापति विषयक लेख में इस चर्चा का न होना कुछ संकेत देता है। शायद उनके मन में भक्ति को ईसाइयत की देन वाली बात रही हो। आगे चलकर उनका एक लेख १९०७ के जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी के अंक में छपा था जो ईसाई धर्म के एक सम्प्रदाय नेस्टोरियन पर था। ग्रियर्सन भारतीय भक्ति में ईसाई धर्म के प्रभाव के पक्षधर थे। इस धर्म की करुणा और प्रायश्चित का भाव विद्यापति और उनके बाद के भक्त कवियों में भी मिलता है जिसकी परम्परा प्राकृत साहित्य और उसके पहले से चली आ रही थी। ग्रियर्सन इस मुद्दे को उठाकर नया विवाद खड़ा करना नहीं चाहते थे। विद्यापति और उनके समकालीन भक्त कवियों की एक लम्बी पूर्ववर्ती परम्परा मिलती है। ऐसा मानने में भी उन्हें संकोच हुआ। विद्यापति की अंतर-प्रांतीय ख्याति की चर्चा उस समय के दूसरे विद्वानों (ग्रियर्सन को छोड़) के यहाँ कम मिलती है। ग्रियर्सन भक्ति और श्रृंगार की समन्वित परम्परा को स्मरण नहीं करते है जिस परम्परा से विद्यापति और दूसरे कवि आते हैं।

प्रेमचंदः अज्ञेय की दृष्टि में

पल्लव

'उपन्यास सम्राट' अज्ञेय द्वारा प्रेमचंद पर लिखा गया संस्मरण है जो उनकी पुस्तक 'स्मृति लेखा' में संकलित किया है। यह पुस्तक सन् १९८२ में प्रकाशित हुई थी। अज्ञेय के ये संस्मरण ठीक उस पारंपरिक अर्थ में नहीं हैं जहाँ किसी व्यक्ति विशेष के व्यक्तित्व और आभा की छाया में लेखक उन्हें याद करता है। अज्ञेय यहाँ स्मृति का सर्जनात्मक उपयोग करते हुए इन्हें मूल्यांकनपरक बना देते हैं। विभिन्न अवसरों पर लिखे गए ये संस्मरण स्मृति लेखक के शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए तब विद्यानिवास मिश्र ने इस पुस्तक की भूमिका में लिखा-'इन लेखाओं को 'संस्मरण' नहीं कहा जा सकता क्योंकि संस्मरण बिखरा होता है और ये सभी लेखाएँ संगठित हैं। इन्हें आलोचना या समीक्षा भी नहीं कह सकते, क्योंकि भाई ने व्यक्ति और कृतिकार को जोड़कर इन्हें लिखा है। एक तरह से व्यक्तित्व और कृतित्व को उन्होंने संगुम्फित कर दिया है या यह भी कह सकते हैं कि उन्होंने व्यक्ति के उतने ही अंश को चुना है, जो कृतित्व का अमृत द्रव बनता हो, सहज हो; और कृतित्व के भी उस पक्ष को चुना है जो न केवल स्मृति के विषय का व्यक्तित्व दीपित करता है बल्कि साथ-ही-साथ स्वयं लेखाकार का व्यक्तित्व भी दीपित करता है।'

'हिन्दी साहित्य कोश' के अनुसार संस्मरण में लेखक अपने समय के इतिहास को लिखना चाहता है परन्तु इतिहासकार के वस्तुपरक रूप से वह बिल्कुल अलग है। संस्मरण लेखक जो स्वयं देखता है, जिसका वह स्वयं अनुभव करता है, उसी का वर्णन करता है। उसके वर्णन में उसकी अपनी अनुभूतियाँ, संवेदनाएँ भी रहती हैं। इस दृष्टि से शैली में वह निबन्धकार के समीप है।

'उपन्यास सम्राट' प्रेमचंद से संबधित एक घटना से प्रारम्भ होता है और तीन चार पृष्ठ बीतते-बीतते उनके साहित्यिक अवदान और मूल्यांकन पर केन्द्रित हो जाता है। यह शैली इस संस्मरण को निबंध के थोड़ा करीब लाने वाली है किंतु इसका महत्व इस तथ्य में है कि प्रेमचंद के व्यक्तित्व की सरलता और उनके कृतित्व की गहराई से अज्ञेय सामान्य पाठक को भी परिचित

करवाने में पूर्णतः सफल रहे हैं। हिन्दी के समकालीन कथाकार स्वयं प्रकाश के रेखाचित्रों की पुस्तक 'हमसफरनामा' भी इसी ढ़ंग से साहित्यिकों का जीवन परिचय-मूल्यांकन करती है, ठेठ आत्मीय अंदाज में।

'उपन्यास सम्राट' 'स्मृति लेखा' का प्रतिनिधि संस्मरण है। इसे संस्मरणात्मक निबंध कहना अधिक समीचीन होगा क्योंकि यहाँ प्रारम्भ में प्रेमचंद के व्यक्तित्व पर बात करते हुए अज्ञेय अंततः उनके लेखक के महत्व और मूल्यांकन का गंभीर प्रयत्न करते हैं। लगभग सोलह पृष्ठों के इस संस्मरण में प्रांरम्भिक पाँच पृष्ठ ऐसे हैं जहाँ अज्ञेय ने व्यक्ति और संपादक प्रेमचंद से अपने संबंधों का विवरण दिया है। आगे के पृष्ठ वस्तुतः अज्ञेय की सूक्ष्म आलोचकीय क्षमता का उदाहरण हैं। हिन्दी में आमतौर पर प्रेमचंद की परंपरा के समानान्तर प्रसाद-जैनेन्द्र और अज्ञेय की परंपरा को गढ़ने-देखने की समझ रही है। अर्थात यह समझ लिया जाता है कि जहाँ प्रेमचंद दीन-दुखी मनुष्यता की कथा कहते हैं वहीं इनके समानान्तर व्यक्ति मन का भीतरी यथार्थ इन तीनों की रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। जाहिर है कि ऐसे सरलीकरण किसी भी तरह से संगत नहीं होते और यहीं इस संस्मरणात्मक निबंध का महत्व बढ़ जाता है जब दो परस्पर समानान्तर विचार सरणियों वाले साहित्यकार आमने-सामने हैं और एक ने यह चुनौती स्वीकार की है कि वह दूसरे का सम्यक् मूल्यांकन कर सके।

यहाँ अज्ञेय ने प्रेमचंद को सबसे पहले इस बात का श्रेय दिया है कि उन्होंने कथा साहित्य के पाठकों की रुचि और भाव संवेदना में अपूर्व योगदान दिया। इसके लिए वे इंशाअल्ला खाँ की 'रानी केतकी की कहानी' की भूमिका और प्रेमचंद के किसी उपन्यास का आरम्भ पढ़ने का सुझाव देते हैं। आगे अज्ञेय प्रेमचंद को 'सामाजिक यथार्थवाद', 'सामाजिक आदर्शवाद' या 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' जैसी कोटियों में बाँधने को अनुचित ठहराते हुए उन्हें नैतिक संसार की वास्तविकता को प्रस्तुत करने वाला साहित्यकार बताते हैं। असल में हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि जब हम कहते है कि 'उपन्यास सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करता है' तब उस का जरूरी तौर पर यह अर्थ नहीं होता कि वह यथार्थ विषयी-निरपेक्ष होता है, 'ऑब्जेक्टिव रिएलिटी' होता है। उपन्यास क्योंकि सर्जना है इसलिए वह सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए भी उसका पुनःसर्जन करके उसे सामने लाता है। रिएलिटी पुनःसर्जित होती है, और ऑब्जेक्टिव होती है तो अपनी शर्तो पर, उस दायरे में जिसमें सर्जना-कर्म-मात्र निरपेक्षीकरण होता है। इस प्रक्रिया में उपन्यासकार के दृष्टिकोण का विशेष महत्त्व हो जाता है और दृष्टिकोण आधुनिक का एक लक्षण है। प्रेमचंद के उपन्यासों में दृष्टिकोण क्रमशः ही प्रकट और पुष्ट हुआ। फिर वे प्रेमचंद के कथालेखन के शैल्पिक पक्ष पर विचार करते हैं। उनकी मान्यता है कि प्रेमचंद कथानक को बहुत अधिक महत्व देते थे, दृष्टिकोण को कम, और इसी आधार पर वे कहते हैं कि प्रेमचंद ने हमें उतने अलग-अलग स्मरणीय पात्र नहीं दिए।

संस्मरण का अर्थ और 'उपन्यास सम्राट'

कथाकार अरुण प्रकाश इन दिनों हिन्दी गद्य विधाओं के स्वरूप की तात्विक पड़ताल कर रहे हैं। उन्होंने लिखा है 'संस्मरण इतनी तरल विधा है कि अपने बारे में लिखो तो आत्मकथा लगे, दूसरों के बारे में लिखो तो रेखाचित्र या निबंध दिखे और जगहों, यात्राओं के बारे में लिखा जाए तो यात्रा वृत्तांत।' कुछ ऐसा ही 'उपन्यास सम्राट' में भी हुआ है जहाँ अज्ञेय प्रेमचंद के लेखन पर बात करते

हुए इतनी दूर निकल जाते हैं कि इस रचना का रूप संस्मरण की प्रचलित परिभाषा से बाहर निकल आता है। सवाल यह है कि संस्मरण की कसौटी पर इस रचना का मूल्यांकन किस तरह किया जाना उचित होगा?एक अच्छा संस्मरण वह होता है जो स्मृति और सत्य के बीच की दूरी को न रहने देने के लिए तत्पर दिखाई देता हो। प्रेमचंद के व्यक्तित्व की विशेषताओं को अज्ञेय ने यहाँ जिस ढ़ंग से प्रस्तुत किया है वह सचमुच विश्वसनीय है। इंटरव्यू में बेहद निम्न स्तर के फूहड़ सवाल पर उत्तर देकर ठहाका लगाते या कविता पर अपनी दो टूक राय बताते प्रेमचंद के चित्र कहीं भी कृत्रिम नहीं लगते। असल समस्या आगे आती है जब अज्ञेय प्रेमचंद के साहित्यिक अवदान पर विस्तृत विचार करते हैं और यहीं यह संस्मरण धीरे-धीरे एक ऐसे निबंध का रूप ग्रहण करता जाता है जो अपने पूर्ववर्ती साहित्यिक का आत्मीय किंतु निर्भीक मूल्यांकन करने में सफल हुआ है। इसके उदाहरण देना अनुचित न होगा-

जिस दुनिया में हम जीते हैं वह नैतिक दृष्टि से कितनी अँधेरी है, इस बात की पहचान उनकी रचनाओं में लगातार तीव्रतर होती गयी, यहाँ तक कि अन्तिम काल की कुछ कहानियों में तो वह मानो एक चरम अतिनैतिक अथवा नीति-निरपेक्ष संसार की देहरी पर आ खड़े हुए थे। लेकिन इस यथार्थ को पहचान कर भी वह स्वीकार नहीं कर पा रहे थे; सामाजिक वास्तविकता का चित्र खींचते हुए उनका लक्ष्य एक नीति-निरपेक्ष संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं था, बल्कि एक नैतिक संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना था। वह नैतिक वास्तविक संसार चाहे कितना ही मर्माहत और उपेक्षित क्यों न हों?

निःसन्देह और भी साहित्यकार रहे जिनके प्रति प्रेमचंद समय-समय पर आकर्षित हुए-और इनमें गोर्की तथा इकबाल उलेख्य हैं- लेकिन यह कहना अनुचित न होगा कि साहित्यकार के नाते प्रेमचंद ने अपने को हमेशा एक जाग्रत नीतिप्राण, सामाजिक चेतना के ही रूप में देखा, एक सिपाही के रूप में नहीं। यह कहना प्रेमचंद के महत्व को कम करना नहीं है क्योंकि मेरे मत में तो जो साहित्यकार विपरीत परिस्थितियों में पूरे समाज की जाग्रत आत्मा का काम करता है वह उससे अच्छा, बड़ा और अधिक विकासशील है जो कि अपने को एक योद्धा के रूप में देखता है। योद्धा पिछड़ भी जाता है, लेकिन जाग्रत आत्मा कभी नहीं पिछड़ती।

स्मृति का साक्षात्कार

'वास्तव में संस्मरण सत्य का अभ्यास है। वह स्मृति पर निर्भर है और स्मृति में कई जटिलताएँ होती हैं। एक तरह से देखें तो स्मृति सत्य की रिश्तेदार जरूर है पर ये जुड़वा संतानें तो कतई नहीं है। स्मृति के चश्मे से दूरस्थ समय की चीजें विशाल दिखती हैं। हम बहुत बातें भूलते भी हैं। बचपन के बारे में तो जरूर ही भूलते है। इसलिए बचपन के बारे में जो चाहे लिख दें, चलेगा 'बचपन का कोई जीवाश्म नहीं होता। स्मृति तथ्य को धूमिल भी करती है।' हम इस उम्र से वाकिफ हैं शीर्षक से संस्मरण का विधागत विवेचन करते हुए अरुण प्रकाश ने स्मृति और संस्मरण का द्वंद्वात्मक संबंध बताया है। इस आलोक में 'उपन्यास सम्राट' को देखना सचमुच रोचक है। अज्ञेय यहाँ प्रेमचंद से जुड़े केवल दो प्रसंगों को ही लेते हैं जबकि वे इस तरह के कुछ और ब्यौरे भी दे सकते थे। इसका तात्पर्य यह है कि संस्मरण में वे स्मृति का उतना ही इस्तेमाल करते हैं जितना विश्वसनीयता के लिए जरूरी हो। यहाँ अज्ञेय का लक्ष्य है प्रेमचंद के लेखन की उपयोगिता का सम्यक विवेचन कर उसका वास्तविक मूल्य अंकन करना। इस मूल्यांकन की

प्रक्रिया को वे किसी पेशेवर आलोचक की तरह करने के बजाय स्मृति के आख्यान का सहारा लेते हैं।

जैसा पूर्व में बताया गया है कि अज्ञेय ने इस बात का बड़ा महत्व प्रतिपादित किया है कि 'प्रेमचंद का अकेला व्यक्तित्व समूचे विक्टोरियन युग का आस्फालन कराता हुआ हमें डिकेंस और थैकरे के समाज-चित्रों से गिसिंग के समाजालोचन तक ही नहीं ले आता बल्कि पहले महायुद्ध का युग पार करके गाल्स-वर्दी से आगे तक पहुँचा देता है।' इस तथ्य की भूमिका के रूप में संस्मरण में आए प्रारंभिक प्रसंग को रख दें तो बात स्पष्ट हो सकेगी- 'प्रश्न के स्वर से और पूछने के ढंग से मैं एक तरफ बैठा भी तिलमिला गया। प्रेमचंद भी एक छोटे क्षण के लिए सकते में आ गये थे, लेकिन तुरंत संभलते हुए उन्होंने संयत स्वर में कहा, ''एक क्यों, मैं तो दोनों पैर कब्र में लटकाये बैठा हूँ फिर भी कहता हूँ कि साधना का बड़ा महत्त्व होता है'' और बात पूरी करके उन्होंने अपना प्रसिद्ध कहकहा लगाया जिसकी गूँज आज भी कभी-कभी उनके दोनों बेटों-श्रीपत राय और अमृत राय- की हँसी में सुनाई दे जाती है। स्पष्ट था कि इस बीच प्रश्न की बदतमीजी पर उन्होंने पूरी तरह विजय पा ली है।'

प्रेमचंद यहाँ साधना का महत्त्व बता रहे हैं जो दरअसल अज्ञेय के इस संस्मरण का बीज सूत्र भी है। अज्ञेय ने इसी भाव बिन्दु का विस्तार समूचे संस्मरण में किया है। वे प्रेमचंद के बारे में लिखते हैं- 'उनकी शक्ति का स्रोत इसी में है कि उन्होंने मानवीय संवेदना का इतना विस्तार किया और अन्याय का विरोध करते हुए भी उस संवेदना का दायरा समय के साथ संकुचित नहीं होने दिया । परवर्ती उपन्यास बहुत-सी बातों में, विशेषतया रचना-शिल्प की दृष्टि से, प्रेमचंद से कहीं आगे है। लेकिन जिस महाकरुणा की बात मैंने की है वह प्रेमचंद को महान् उपन्यासकारों की कोटि में रखती है- वह उन्हें अब तक एक बड़े समाज के साथ जोड़े रख सकती है, जबकि उन से कुशलतर परवर्ती उपन्यासकारों को दायरा छोटा हो गया है।'

इस संदर्भ में स्मृति का एक रचनात्मक उपयोग अज्ञेय ने अपने ही प्रसंग में किया है। सच्चिदानंद हीरानन्द वात्स्यायन को अज्ञेय उपनाम कैसे मिला?यह जानना किसी भी पाठक के लिए रोचक होगा। अज्ञेय 'उपन्यास सम्राट' में इस प्रसंग का संक्षिप्त किंतु दिलचस्प विवरण देते हैं और आत्मालोचन से गहरी विश्वसनीयता भी अर्जित करते हैं।

आलोचक की आँख

अज्ञेय मूलतः कवि-कथाकार हैं लेकिन आलोचना के सूक्ष्म विवेक के कारण ही हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में भी उनका दायरा स्वीकार किया जाता है। 'उपन्यास सम्राट' संस्मरण के ढाँचे में कथाकार प्रेमचंद के लेखन की समालोचना भी प्रस्तुत करता है और चालू ढाँचे से हटकर लिखे जाने से इस आलोचना को विशिष्ट कहना चाहिए। अज्ञेय ने प्रेमचंद का मूल्यांकन करते हुए कुछ सूत्र दिये हैं-

१. लक्षणीय है सामाजिक की रुचि और भाव संवेदन का वह परिवर्तन जो उनके माध्यम से संपन्न हुआ।

२. सामाजिक वास्तविकता का चित्र खींचते हुए उनका लक्ष्य एक नीति-निरपेक्ष संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना नहीं था, बल्कि एक नैतिक संसार की वास्तविकता प्रस्तुत करना था- वह नैतिक वास्तविक संसार चाहे कितना ही मर्माहत और उपेक्षित क्यों न हों।

३. प्रेमचंद के श्रेष्ठ उपन्यास 'गोदान' के होरी को शायद इस करुणा का प्रतीक-पुरुष माना जा सकता है जो क्रोध करना चाह कर भी इसलिए नहीं कर पाता कि वह धर्मभीरु है और उसके भीतर कारुण्य की एक धारा सदैव बहती है। प्रेमचंद भी शायद रोष करना चाहते हैं, लेकिन कर नहीं पाते क्योंकि वह भी मानव मात्र को प्यार करते हैं- वैसा व्यापक प्यार जिसके लिए करुणा ही सही नाम हो जाता है।

४. उनके विचार या सिद्धान्त चरित्रों पर आरोपित किये जा कर उन्हें पुतलियों की तरह नहीं नचाते, बल्कि चरित्र ही मंच पर आ कर अपना जीवन जीते हुए अपने विचारों तक पहुँचते हैं अथवा अपने पाये हुए विचार निरूपित किये जाने के लिए उपन्यासकार को सौंप देते हैं।

५. प्रेमचंद की रचना यात्रा का उल्लेख करते हुए मैंने कहा कि अंग्रेजी उपन्यास ने डिकेंस से लेकर गाल्सवर्दी तक जितना क्षेत्र पार किया था, प्रेमचंद ने अपने सर्जक जीवन में उसे अकेले पार कर लिया । इस रूप में प्रेमचंद केवल एक उपन्यासकार नहीं हैं बल्कि आधुनिक हिन्दी उपन्यास के लिए एक पूरी परम्परा हैं।

६. क्योंकि असंख्य सामाजिक जटिलताओं के बीच भी भारतीय मानव की अवस्थिति के आधारभूत सम्बन्धों को सीधे सरल ढंग से भी निरूपित किया जा सकता है- क्योंकि महान् सत्य अन्ततः बड़े सरल सत्य होते हैं- इसीलिए प्रेमचंद की विशाल मानवीय करुणा और उनकी संवेदना-क्षमता का इतना महत्व है।

७. लेकिन महान साहित्यकार को यों उपयोज्य या उपजीव्य नहीं बनाया जा सकता। प्रेमचंद को भी हम अपने-अपने बाड़े में ले आने या अपनी खत्ती में बन्द करने का मनोभाव छोड़कर उसी रूप में ग्रहण कर सकें जिस रूप में वह हमारे पाठक-समाज में बने रहने वाले हैं तो ही हम उनका वास्तविक सम्मान कर रहे होंगे और हिन्दी साहित्य अथवा उसके अध्ययन-अध्यापन को सही प्रेरणा दे रहे होंगे।

विद्यानिवास मिश्र ने 'स्मृति लेखा' की भूमिका में लिखा है- 'प्रेमचंद की स्मृति-लेखा में नैतिक यथार्थवाद की जो अवधारणा भाई ने रेखांकित की है, वह बहुत प्रासंगिक होते हुए भी अत्यन्त उपेक्षित है। कुछ सतही पैमानों से साहित्यिक परम्परा का जो लोग विकास नापते-जोखते रहते हैं, वे भूल जाते हैं कि साहित्यकार सिपाही नहीं होता, वह जाग्रत नीतिप्राण सामाजिक चेतना का वाहक होता है। भाई ने 'सिपाही' और 'चेतना-वाहक' इन दो भूमिकाओं को एक-दूसरे का विकल्प नहीं बनाया, जरूरत पड़ने पर सिपाही भी रहे, पर उन्होंने अपनी मुख्य भूमिका सामाजिक चेतना के वाहक की ही रखी।'

अज्ञेय यहाँ एक प्रसंग में कहते हैं कि साहित्यकारों की जन्म शताब्दियों के साथ ही विरासत का सवाल भी उठाया जाता है लेकिन यह देखना चाहिए कि विरासत का असल अर्थ क्या है?'इधर कई-एक साहित्यकारों की जन्म-शताब्दियाँ मनायी गयी हैं और लगभग प्रत्येक के साथ विरासत का प्रश्न बड़े विकृत रूप में उठाया गया है, मानो हम अपने को परम्परा में जोड़ने की बात न सोचकर परम्परा को अपने एकाधिकार में ले लेना चाहते हों! विचित्र बात है कि साहित्यकारों को अपनी-अपनी सम्पत्ति सिद्ध करने की यह प्रवृत्ति उन्हीं लोगों में अधिक है जो दूसरे क्षेत्रों में सम्पत्ति के अधिकार के विरोध की बात करते हैं।'

अज्ञेय के अनुसार लेखक की विरासत वह है जो परवर्ती लेखक अपने लेखन संस्मरण में

अपनाकर समृद्ध करें न कि लेखक की विरासत को विचारधारा विशेष की संपत्ति ही सिद्ध करने लगें। वस्तुतः अज्ञेय साहित्य में मतवाद के प्रबल विरोधी है और इसे वे साहित्य की स्वायत्तता में अवरोध मानते हैं। प्रेमचंद की विरासत को आमतौर पर प्रगतिशील जनवादी लेखक अपनी विचारधारा से जोड़ते हैं जो अज्ञेय को उचित नहीं जान पड़ता। वे व्यंग्य करते हैं कि साहित्यकारों को अपनी सम्पत्ति सिद्ध करने की प्रवृत्ति इन्हीं प्रगतिशील जनवादी लोगों में अधिक है जो सम्पत्ति के अधिकता के विरोध की बात करते हैं। साहित्य के क्षेत्र में विरासत का कोई अर्थ नहीं होता। साहित्यकार का न कोई वली होता है, न कोई वारिस। उस की देन समग्र मानवता के लिए होती है, जैसे कि वह जो कुछ पाता है वह भी समग्र मानवता से पाता है। अवश्य ही विधाओं के विकास की ऐतिहासिक परम्परा में अध्येता और अध्यापक हर साहित्यकार का कोई न कोई स्थान निश्चित कर देना चाहते हैं और इसी सन्दर्भ में यह प्रश्न भी उठता है कि कौन से साहित्यकार उसी परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं। लेकिन यह बात साहित्यकार के अवदान से अलग है और बहुत छोटी है। .....फिर भी अगर उत्तराधिकार की बात में कोई अर्थवत्ता हो सकती है तो इसी रूप में कि हम खोजें कि जो व्यापक करुणा अथवा मानवीय संवेदना प्रेमचंद की विशेषता रही वह हमें किन परवर्ती साहित्यकारों में मिलती है। मेरा अनुमान है कि इस प्रश्न का सही जवाब उन सबको चौंकाने वाला होगा जो भारतीय साहित्य की वास्तविक समृद्धि और आवश्यकताओं की ओर ध्यान न देकर प्रेमचंद को केवल अपनी खत्ती में भर लेने को व्यग्र है। अज्ञेय लेखक की विरासत को इन मतवादों से ऊपर उच्च मानवीय धरोहर के रूप में देखने के आग्रही हैं।

अज्ञेय की विशेषता ही कही जानी चाहिए कि वे प्रचलित मुहावरों से हटकर प्रेमचंद को नये आलोक में देख पाते हैं। अज्ञेय कहते भी हैं कि 'मैंने यही प्रयत्न किया कि दिखा सकूँ कि एक बड़ा साहित्यकार अपने समकालीन या अनुवर्ती लेखक की चेतना में कैसे जीता है और इसलिए उसकी रचना-दृष्टि फिर अपने युवतर समकालीनों को सन्दर्भ अथवा परिवेश बन जाती है।' कहना न होगा कि यह बात लिखकर ही अज्ञेय ने चालू विभाजनों को पीछे छोड़ते हुए कैसे हिन्दी लेखन की समृद्ध परंपरा स्वतः निर्मित कर दी है।

वस्तुतः यह संस्मरण बताता है कि अपने समय के एक बड़े साहित्यकार को दूसरा बड़ा लेखक किस तरह अपनी चेतना में धारण करता है।

संदर्भ

१. अज्ञेय-स्मृति लेखा- नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, संस्करण १९८६
२. रमेशचन्द्र शाह, - अज्ञेय -साहित्य अकादमी, नई दिल्ली,संस्करण २०००
३. प्रणय कृष्ण, - अज्ञेय का काव्य- आधार प्रकाशन,पंचकूला, संस्करण २००७
४. अरुण प्रकाश, - हम इस उम्र से वाकिफ हैं- प्रगतिशील वसुधा, भोपाल जनवरी, मार्च २००६
५. स्वयं प्रकाश - हमसफ़रनामा- रचना प्रकाशन, जयपुर, २०००
६. नामवर सिंह, (सं.) - आलोचना- राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
७. प्रभाकर श्रोत्रिय, (सं.) -पूर्वग्रह-भारत भवन, भोपाल

नवजागरण और हिंदी का जातीय साहित्य

डॉ. ऋषिकेश राय

नवजागरण कालीन हिंदी साहित्य में विद्यमान हिंदी की जातीय परम्परा के तत्वों का विश्लेषण करने से पूर्व हिंदी की जातीय परम्परा को समझना जरूरी है। डा.रामविलास शर्मा ने भक्तिकाल की चर्चा करते हुए लिखा है कि ''यह आन्दोलन एक जातीय और जनवादी आंदोलन है। जिस समय यह आंदोलन चल रहा था, उस समय सामन्तीय रूढ़ियाँ समाप्त नहीं हो गई थीं। उन रूढ़ियों का प्रतिबिम्ब राज्याश्रयों में लिखे जा रहे काव्यों में विद्यमान था।''[1]

किसी जाति की पहचान उसकी भाषा के माध्यम से प्रकट होती है, परन्तु किसी भाषा में किसी विशेष कालखण्ड में लिखा गया उसका सम्पूर्ण साहित्य जातीय साहित्य में अन्तर्भुक्त नहीं किया जा सकता। साहित्य का एक अंश यथास्थितिवाद, रूढ़िवादिता और सामंती मूल्यों के खिलाफ लगातार सक्रिय प्रतिरोध की भूमिका में रहता है। यह परम्परा में विद्यमान प्रगतिशील मूल्यों की सहायता से उस जाति के सांस्कृतिक विकास में सहायक होता है। डॉ. रामविलास शर्मा ने ''संकल्प, समीक्षा दशक'' में ''त्रिलोचन आधुनिकता और परम्पराबोध'' शीर्षक अपने लेख में जातीय परम्परा को परिभाषित करते हुए लिखा है, ''जिस समाज में अनेक वर्ग हों, रहन-सहन और व्यवहार के अनेक स्तर हों, उसमें साहित्य की परम्परा भी अनेक होती हैं। मोटे तौर पर जैसे एक दरबारी परम्परा, दूसरी गैर दरबारी परम्परा। इसमें जो परम्परा सांस्कृतिक विकास में सहायक होती है, उसे जातीय परम्परा कहते हैं।''[2] किसी जाति की संस्कृति में विद्यमान इन दोनों परम्पराओं में संघर्ष होता रहता है तथा दोनों अपने को सुदृढ़ करने के प्रयास में लगी होती हैं। व्यापारिक पूँजीवाद की अवस्था में ही सामन्तविरोधी क्रांति पूरी नहीं होती तथा इस अवस्था का मुख्य अंतर्विरोध सामंतों और किसान कारीगरों के बीच होता है। व्यापारी वर्ग की भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका होती है। यह वर्ग कभी किसान कारीगरों का साथ देता है तो कभी सामंत वर्ग का।

हिंदी साहित्य के इतिहास में भक्तिकाव्य और रीतिकाव्य का अंतर्विरोध भी इसी ढंग का है। व्यापारिक पूंजीवाद के दौर में जनपदों का अलगाव खत्म होता है। सामंत विरोधी जातीय चेतना भक्तिकाव्य की प्रधान चंतना है। डॉ.रामविलास शर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं, ''सैकड़ों वर्षों से कायम भारतीय सामन्तवाद कभी का अपनी ऐतिहासिक भूमिका खत्म कर चुका था। उसे समाप्त करने वाली शक्तियाँ उसी के गर्भ में पुष्ट हो रही थी। ये शक्तियाँ व्यापारियों, जुलाहों कारीगरों, गरीब किसानों की थीं, जिनके सांस्कृतिक विकास और सुखी जीवन में सबसे बड़ी बाधा थी सामन्तवाद। संतों ने धर्म पर से पुरोहितों का इजारा तोड़ा। खासतौर से जुलाहों कारीगरों, गरीब किसानों और अछूतों को सांस लेने का मौका मिला, यह विश्वास मिला कि पुरोहितों और शास्त्रों के बिना भी उनका काम चल सकता है।''[३]

भारतीय भाषाओं के साहित्य में किसानों और कारीगरों का जितना योगदान है, उतना अंग्रेजी या जर्मन में नहीं है। यहाँ के भक्त कवियों ने पड़ोसी जनपदों को पास लाने के अलावा सांस्कृतिक भूमि पर संगठित करने का भी कार्य किया। डॉ. शर्मा ने भक्तिकाव्य को जातीय परम्परा का काव्य माना है तथा इसकी लोकजागरणकारी भूमिका को रेखांकित किया है। इस संदर्भ में वे लिखते हैं, ''दरबारों से बाहर हमारे यहाँ भक्ति साहित्य की परम्परा है, और उसके साथ, भक्ति से अलग हटकर, रहीम जैसे कवियों की धारा है। इन दोनों को मिलाकर हम उसे लोकजागरण की धारा कह सकते हैं। भारतेन्दु युग में प्रताप नारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट जैसे लोगों ने, आगे चलकर प्रेमचंद और निराला जैसे लेखकों ने साहित्य की सामंत विरोधी धारा को आगे बढ़ाया।''[४] डॉ. शर्मा की दृष्टि में भारतेन्दु युगीन नवजागरण भी भक्तिकालीन लोक जागरण का विकास है। भारतेन्दु युग के कवि और साहित्यकार बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र आदि उसी प्रकार हिंदी की जातीय परम्परा के निर्माता हैं जिस प्रकार भक्तिकाल के कवि कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि। भारतेन्दु काल के बाद प्रेमचंद और निराला इस परम्परा को आगे बढ़ाते हैं।''[५] भक्त कवियों को दुहरा संघर्ष करना पड़ा था, उसी तरह नवजागरणकालीन साहित्यकारों को भी साम्राज्यवाद तथा समाज में विद्यमान सामन्तीय जड़ता और रूढ़ियों के खिलाफ दुहरा संघर्ष छेड़ना पड़ा। यह प्रश्न आज तक बना हुआ है। संक्षेप में हिंदी जाति की संघर्षशील चेतना को अभिव्यक्त करने वाला साहित्य ही हिंदी की जातीय परम्परा का प्रतिनिधि साहित्य है। जातीय परम्परा का मुख्य आधार पीड़ित और गरीब जनता है। अपनी कृति 'भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश' में डॉ. शर्मा ने लिखा है ''गरीब जनता को आधार बनाकर जब तक समाज में हिन्दू मुस्लिम का भेदभाव नहीं मिटाया जाता तब तक हिंदी भाषी जनता भीतर से सुदृढ़ नहीं हो सकती। इसी तरह जब तक जाति-बिरादरी का भेद बना हुआ है, तब तक हिंदी जाति भीतर से कमजोर बनी रहेगी।''[६] हिंदी प्रदेश में सामंती रूढ़ियाँ सर्वाधिक है, जातीय अलगाव अभी बना हुआ है, धार्मिक विद्वेष के अलावा निरक्षरता तथा जाति-बिरादरी के अभिशाप से भी यह प्रदेश सबसे अधिक आक्रांत है हिदी-उर्दू के अलगाव के अलावा हिंदी प्रदेश अंग्रेजी के गढ़ हैं। इन सारी बुराईयों के प्रतिरोध में तथा इनके उन्मूलन हेतु लिखा गया साहित्य हिंदी का जातीय साहित्य है। इसके अलावा साहित्य के माध्यम से बुद्धिवादी दृष्टिकोण का प्रसार, वैज्ञानिक चेतना उत्पन्न करने हेतु प्रयत्न रहस्यवादी चिंतन के विपरीत वस्तुवादी चिंतन पर बल देना भी जातीय परम्परा का विकास करना है।

''हिंदी नवजागरण और उसके साहित्य की प्रमुख विशेषताएं जिन्हें हम हिंदी की जातीय परम्परा के साथ सम्बद्ध कर सकते हैं, वे हैं- सामंतवाद और साम्राज्यवाद विरोधी चेतना,

इतिहास और परम्परा का नया मूल्यांकन, रूढ़िवाद का विरोध, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष, खड़ी बोली हिंदी का जातीय भाषा के रूप में विकास, आधुनिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण का विकास, वैज्ञानिक चेतना का प्रसार, साहित्य में रीतिवाद का विरोध, वस्तुवादी चिंतन का विकास, स्वच्छंदतावादी और यथार्थवादी रचना प्रवृत्तियों का विकास आदि।''[७]

नवजागरण कालीन हिंदी लेखकों के साहित्य में साम्राज्यवाद विरोध एवं सामंतीय रूढ़ियों की प्रखर आलोचना मिलती है। यद्यपि कुछ आलोचकों ने उनमें राजभक्ति को लक्षित कर उसकी निंदा भी की है। मराठी के तत्कालीन लेखक सखाराम गणेश देउस्कर ने अपनी पुस्तक ''देश की बात'' में महारानी विक्टोरिया को पूजनीया और उच्चकुल के अंग्रेजों को उदार कहने के बाद भी उनके शोषण और अत्याचार की आलोचना की थी। भारतेन्दु एवं उनके समकालीनों में भी कई जगह अंग्रेजी राज प्रशंसा मिलती है। यह १६ वीं शती के लेखकों की एक प्रवृत्ति थी जो संभवतः महारानी विक्टोरिया के १८५८ में घोषित पत्र द्वारा भारत का शासन कम्पनी के हाथ से इंग्लैण्ड सरकार के पक्ष में हस्तांतरण से प्रभावित थी। भारतेन्दु कालीन लेखकों का यह अंतर्विरोध उन्हें अंग्रेजी राज के सुसंगत आलोचक के रूप में देखे जाने के अधिकार से वंचित नहीं कर सकता।

भारतेन्दु के अनुसार जनता की गरीबी का मुख्य कारण यहाँ के उद्योग धंधों का नाश था। ६ फरवरी, १८७४ की ''कविवचन सुधा'' में उन्होंने लिखा था ''जबसे कि अंग्रेज व्यापारी माल भेजने लगे देखो बढ़ई आदि छोटे व्यापारियों को काम मिलना कठिन हो गया है, यहाँ तक कि घरों की खिड़कियाँ दरवाजे आदि सब विलायत से बनकर आते हैं।''[८] अंग्रेजों पर बनाई अपनी प्रसिद्ध मुकरी में उन्होंने उनकी शोषण वृत्ति का भण्डाफोड़ दादाभाई नौरोजी से बहुत पहले कर दिया था। १६ फरवरी, १८७४ की 'कविवचन सुधा' में भारतेन्दु ने लिखा ''क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमान दो सौ वर्ष हुए इनका अधिकार इस देश पर है। इन्होंने हमारे धन-धान्य की वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा सिखाई और सब व्यापार और धन अपने हस्तगत किया।''[९] 'कविवचन सुधा' में समय-समय पर लिखी टिप्पणियों में उन्होंने अंग्रेजी राज की आर्थिक शोषणकारी भूमिका को उद्घाटित किया था। भारतेन्दु ने स्वदेशी आंदोलन के बहुत पहले ही तदीय समाज के सदस्यों के लिए विलायती कपड़े का प्रयोग निषिद्ध कर दिया। भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों राधाचरण गोस्वमी, बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र ने हास्य तथ व्यंग्य आलम्बन चुने उनमें अंग्रेजी राज, इसके शासन तंत्र के अधिकारी, खुशामदी रईस आदि प्रमुख थे। भारतेन्दु ने हिंदी गद्य को जन्म न दिया था, वरन उसे एक नयी भूमिका के पालन हेतु पैनापन दिया था। ''उसके माध्यम से उन्होंने साम्राज्य विरोधी चेतना का प्रसार किया ऐसी तीखी साम्राज्य विरोधी चेतना जो उनसे पहले के किसी लेखक में दिखाई नहीं देता।''[१०]

''हिंदी प्रदीप'' के सम्पादक पं.बालकृष्ण भट्ट उदार विचारों के लेखक थे परन्तु साम्राज्यवादी विचारधारा के उत्कट विरोधी थे। स्वदेशी वस्तुओं के व्यवहार की अपील करते हुए उन्होंने लिखा था ''वही सुशिक्षा और सभ्यता के दम भरने वाले हम हैं कि देशी चीजों के बर्ताव के लिए हजार सिर धुनते हैं और प्रत्यक्ष देख भी रहे हैं कि देश की बनी वस्तुओं को काम में न लाने से दरिद्रता देश में डेरा किए हैं पर विलायती चीजों के चटकीलेपन और नफासत में ऐसे फँसे हैं कि हजार बार के लेक्चर का एक भी फल न हुआ।''[११]

हिंदी प्रदेश विशेष रूप से शिक्षा के मामले में पिछड़ा हुआ था, यहाँ शिक्षा के प्रसार की अत्यधिक आवश्यकता थी। इस बात को नवजागरणकालीन हिंदी लेखक अच्छी तरह समझते थे। साथ ही इस बात को भी समझते थे कि पुराने ढ़ंग की शिक्षा से देश का भला न होगा। देश के

औद्योगिक विकास के लिए शिल्पों की शिक्षा पर बल देना अत्यावश्यक था। इसीलिए इस युग के लेखकों-पत्रकारों ने शिक्षा विशेषतः शिल्पों की शिक्षा पर जोर दिया था। इस कार्य हेतु तत्कालीन हिंदी लेखक सक्रिय हो गए थे। महामहोपाध्याय सुधाकर द्विवेदी ने विज्ञान प्रचारिणी सभा की स्थापना की थी एवं गणितशास्त्र तथा अन्य विज्ञानों के लिए परिभाषिक शब्दों का निर्माण किया था। काशी की राजकीय पाठशाला के गणित शिक्षक पं. लक्ष्मी शंकर मिश्र ने गणित विद्या की पूरी श्रेणी (Mathematical Series) लिखी थी। इनकी लिखी पुस्तकों में स्थिति विद्या, गति विद्या, वायुमण्डल विज्ञान, पदार्थ विज्ञान विटव आदि प्रमुख थी। इनके द्वारा छात्रों को हिंदी माध्यम से विज्ञान शिक्षा देने का प्रयत्न किया जा रहा था।

भारतेन्दु युग में नाटक का सुंदर उपयोग जनता में सन्देश पहुँचाने के लिए किया गया था। नाटक साहित्य की सर्वाधिक सामाजिक विद्या है। सामाजिक उत्थान तथा रूढ़ियों के उन्मूलन के साथ-साथ वस्तुवादी चिंतन प्रणाली के विकास में तत्कालीन नाटकों का योगदान असंदिग्ध है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नामक अपने प्रहसन द्वारा भारतेन्दु ने समाज में फैले अनाचार का पर्दाफाश किया। सामाजिक नाटकों की परम्परा का सूत्रपात यहीं से होता है। ''भारत दुर्दशा'' ''विषस्य विषमौषधम'' आदि नाटकों का स्वर भी सामाजिक रूढ़ि के खिलाफ है। 'अंधेर नगरी' में अंग्रेजी राज की प्रहसनकारी प्रतीक व्यंजना है। 'सत्य हरिश्चन्द्र' में आदर्श और 'प्रेमजोगिनी'' में यथार्थ की व्यंजना हुई है। भारतेन्दु युग के एक प्रमुख नाटककार राधाचरण गोस्वमी थे। विचारों की उग्रता और प्रगतिशीलता में ये अपने समकालीन लेखकों से आगे थे। इनके नाटकों में ''यमलोक की यात्रा'' 'तनमन धन श्री गुसाईंजी को अर्पण' और 'बूढ़े मुँह मुंहासे' श्रेष्ठ है। इनके नाटकों में उस नाटक परम्परा का पूर्ण विकास मिलता है जिसमें हास्य और व्यंग्य के साथ कथावस्तु द्वारा समाज सुधार की चेष्टा की गई।''[९२] अपने नाटकों में गोस्वामी जी ने धार्मिक आडम्बरों, मिथ्या कर्मकाण्डों आदि की आलोचना में अत्यंत प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय दिया है। इस सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है ''१९वीं सदी के अन्य भाषाओं के साहित्य में यह आधुनिक दृष्टिकोण ढूँढने से ही मिलेगा। भारतेन्दु युग नवीन चिंतन और नवीन प्रयोगों का युग था।''[९३] इस युग के सामाजिक नाटकों में साहित्यिक सांस्कृतिक आंदोलनों के सूत्रपात की शक्ति है जो सांस्कृतिक एवं जातीय विकास को दिशा देती है।

भारतेन्दु युग के लेखकों ने पत्र साहित्य की उन्नति का लाभ निबन्ध के रूप को अस्थिर बनाने तथा उसे गंभीर चिंतन का विषय बनाने में किया। हिंदी साहित्य में निबन्ध की कोई सुदृढ़ परम्परा न थी, भारतेन्दु युग के साहित्यकारों ने अपनी व्यंग्य प्रधान भाषा, फक्कड़पन तथा बेतकल्लुफी से इसे अद्‌भुत शक्ति दी। भारतेन्दु 'के एक अद्‌भुत अपूर्व स्वपन' सितारे हिन्द के 'राजा भोज का सपना' तथा राधाचरण गोस्वामी के ''यमलोक की यात्रा'' ने व्यंग्यपूर्ण शैली में सामाजिक ब्राह्मचार, पाखण्ड तथा मिथ्यावृत्ति की पोल खोलकर रख दी। पं. बालकृष्ण भट्‌ट के निबन्ध ''शिवशंभू का चिट्‌ठा'' उनकी अक्षयकीर्ति का स्रोत है जिसने अंग्रेजी शासन की अनीति पर जमकर कशाघात किया था। पं. भट्‌ट के साहित्यिक निबन्धों से ही आधुनिक आलोचना का सूत्रपात माना जाता है। धर्म, दर्शन, साहित्य और इतिहास आदि के प्रति भट्‌ट जी के विचार उन्हें अपने युग का एक महान विचारक सिद्ध करते हैं।

भारतेन्दु युगीन लेखकों की जातीयवादी दृष्टि उनकी भाषा में सर्वाधिक प्रतिफलित हुई है। भारतेन्दु युग के प्रारम्भ में कविता की भाषा ब्रजभाषा थी। ''युग के आरम्भ में 'खड़ी बोली' को कविता के लिए असमर्थ बताया गया है- सहानुभूतिपूर्ण प्रतिरोधी केवल ब्रजभाषा के माधुर्य एवं

प्रवाह सौरस्य के ही कायल थे और उन्हें खड़ी बोली की उक्त क्षमता में अविश्वास था।''[९४] भारतेन्दु भी कविता के क्षेत्र में ब्रज की अनिवार्यता एक सीमा तक स्वीकार करते थे, परंतु सरल खड़ी बोली में काव्य रचना की सम्भावनाओं के प्रति वे जागरूक थे। जातीय एकीकरण, सामंती परिवेश के उन्मूलन तथा राष्ट्रीय भावधारा के विकास के लिए खड़ी बोली की आवश्यकता को भारतेन्दु इसके सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में भलीभाँति समझ रहे थे। ब्रजभाषा श्रृंगार रस प्रधान होने के कारण युगानुरूप विवेचन विश्लेषण तथा अवधारणाओं की भाषा होने के अयोग्य थी।

खड़ी बोली की प्रतिष्ठा में अयोध्या प्रसाद खत्री, श्रीधर पाठक और भारतेन्दु ने विशेष प्रयत्न किया। शिक्षा के प्रसार के साथ नवीन बृद्धिवादी एवं लोकतांत्रिक दृष्टिकोण का उदय हुआ अतः काव्य को सामंती रीतिवादी घर से बाहर लाकर जनसाधारण के समीप लाना युगीन आवश्यकता बन गया। ब्रजभाषा रीतिवादी और सामंती अभिरूचि की अवशेष थी, इसलिए काव्यभाषा के पद से उसे अपदस्थ करना युग की माँग थी। काव्यभाषा के रूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा से काव्यभाषा को काव्यरूढ़ियों और कृत्रिमता से मुक्ति मिली। खड़ी बोली काव्य में सांमती अभिरूचियों के स्थान पर जनसामान्य की अभिव्यक्ति को स्थान मिला। इस बारे में श्रीकृष्णलाल ने लिखा है, ''रीतिकालीन भक्ति जन्य एवं घोर श्रृंगारिक भावाभिव्यक्ति के लिए अपने ध्वन्यात्मक शब्दों द्वारा वृत्ति चित्रों का निर्माण करने वाली ब्रजभाषा विचारात्मक अभिव्यक्ति के लिए निर्बल सिद्ध हुई।''[९५]

ब्रजभाषा का काव्यभाषा के रूप में निषेध का समर्थन करने पर भी भारतेन्दु युगीन लेखकों ने खड़ी बोली हिंदी के स्वरूप निर्धारण में जनपदीय बोलियों के शब्दों तथा मुहावरों लोकोत्तियों को उदारतापूर्वक स्थान दिया। देशी बोलियों से जातीय भाषा के घनिष्ठतम सम्पर्क से वे परिचित थे। उनकी भाषा का रचनात्मक उद्देश्य सर्वजनसुलभता था जिसने उनको गद्य भाषा में ब्रज, अवधी, भोजपुरी आदि के शब्दों के प्रयोग हेतु प्रेरित किया। ''अंततः एक वाक्य में कहा जा सकता है कि भारतेन्दु युग की भाषा खड़ी बोली है परन्तु उसके शब्द भण्डार की प्राकृतिक आदि सभी प्रकार की शब्दावली का योगदान रहा है।''[९६] इसके अलावा युगीन साहित्य में पात्रानुकूल बंगाल, मराठी और पंजाबी शब्दों का भी प्रयोग है। खड़ी बोली में कतिपय अंग्रेजी शब्दों जैसे एडीटर, मैगजीन, एडिशन, प्रेस, पेपर आदि मुद्रण सम्बन्धी शब्दों का प्रयोग हुआ है।

भारतेन्दु युग के लेखकों के सामने भाषा के जातीय स्वरूप के निर्माण का प्रश्न था। यह प्रश्न पूर्वापर क्रम से सभी प्रमुख भारतीय जातियों की भाषा के सम्मुखीन उपस्थित हुआ था। बांग्ला में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रमथ चौधरी, ओड़िया में गोपबंधु दास और फकीर मोहन सेनापति, तेलुगु में कंडकुरि वीरेशलिंगम और मलयालम में चंदू मेनन के नेतृत्व में नवीन जातीय भाषा के प्रयोग को सुलभ बनाया गया था। हिंदी में श्रेय भारतेन्दु हरिश्चंद्र को मिला। भारतेन्दु युगीन लेखकों ने जातीय भाषा के स्वरूप निर्माण में हिंदी भाषागत परिवेश का पूरा ध्यान रखा। हिंदी के भाषागत परिवेश की कई विशिष्टताएं हैं, जिनमें विभिन्न बोली रूपों की विद्यमानता तथा साहित्यिक शिष्ट प्रयोगों में हिंदी और उर्दू दो रूपों का अस्तित्व प्रमुख हैं। हिंदी महाजाति की भाषा के स्वरूप निर्धारण में बोलियों के अन्तर्जनपदीय परिवेश का महत्वपूर्ण योगदान है। इस तथ्य को भलीभँति समझते हुए भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों ने जनपदीय बोलियों की शब्दावली तथा लोक-काव्य रूपों का नए संदर्भ में सृजनात्मक उपयोग किया। हिंदी क्षेत्र में विद्यमान दोनों साहित्यिक रूपों हिंदी तथा उर्दू में अंतःक्रिया होती रहती है। दोनों का मूलाधार एक ही है जो जड़ नहीं गतिशील है। नवजागरणकालीन लेखकों विशेषतया सितारे हिन्द, भारतेन्दु और बालमुकुन्द

गुप्त ने उर्दू की मुहावरेदार अभिव्यक्ति शैली का सार्थक उपयोग किया। भारतेन्दु युगीन लेखकों ने जातीय आवश्यकता के लिए न्यायालयों में हिंदी प्रचार आंदोलन चलाया। हिंदी को न्यायालयीन तथा प्रशासनिक संदर्भों में प्रयुक्तिक्षम बनाने के लिए उसे सुस्थिर बनाना तथा दोषों से मुक्त करना आवश्यक था। उनके इस सम्बन्ध में किए गए प्रयासों के बारे में डॉ. मीरारानी बल लिखती है, ''भारतेन्दुयुगीन पत्रकार भाषा सामर्थ्य और पत्रों की शक्ति से पूर्ण परिचित थे। इनके बल पर वे सत्ता और समाज का रुख बदलने की ताकत रखते थे। उन्होंने हिंदी भाषा सम्बन्धी शिल्प, वर्ण लिपि, स्वरूप परिष्कार पर व्यापक विचार किया था ताकि उसके अंगो-उपांगों, शब्दावली, व्याकरण आदि को सशक्त रूप दिया जा सके।''[१७] व्यापक हिंदी प्रचार के लिए सैकड़ों लेख तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में लिखे गए। मित्र विलास (१८७७) शुभचिंतक (११ फरवरी, १८८४) 'भारत सुदशा प्रवर्तक' (दिसम्बर, १८८१) 'भारत मित्र' (१७ मई, १८७६) सार सुधानिधि (१३ जनवरी, १८७६) 'हिंदी प्रदीप' (अगस्त, १८८०) आदि पत्रों ने हिंदी के समर्थन में कई लेख लिखे।

हिंदी नवजागरण में भारतेन्दुकालीन पत्रकारिता का महत्तम योगदान था। इस संक्रांति काल में हिंदी के पत्रकारों ने युग सृजेता की भूमिका निबाही थी। सांमती रूढ़ियों से लड़ने तथा वस्तुवादी वैज्ञानिक चिंतन के विकास में हिंदी पत्रकारिता की भूमिका युगान्तरकारी थी। इस काल की पत्रकारिता में आधुनिकता और परम्परा का स्वस्थ समन्वय और द्वंद्वदृष्टिगोचर होता है। उसने भारतीय श्रेष्ठ मूल्यों को नकार कर पश्चिमीकरण की आधुनिकता का कभी अंधानुकरण नहीं किया। केवल पश्चिम से वे ही तत्व ग्रहण किए जिनसे भारत को आधुनिक रूप देने और उसकी प्रगति की दौड़ में सहायता मिली सकती थी।''१८

इस प्रकार भारतेन्दु युगीन साहित्य में सांमती रूढ़ियों के खिलाफ चेतना साम्राज्यवाद विरोध, वैज्ञानिक चिंतन को प्रोत्साहन, हिंदी भाषा को समर्थ बनाना, साहित्य में रीतिवाद का विरोध तथा नवीन विषयवस्तु और भावबोध का निर्माण आदि जातीयतावादी प्रवृत्तियों का प्राचुर्य है। भारतेन्दुकालीन साहित्य को सच्चे अर्थों में हिंदी का जातीय साहित्य कहा जा सकता है जिसमें भक्तिकालीन लोकजागरण की चेतना का विस्तार मिलता है।

द्विवेदीयुग में आकर नवजागरण के अंतर्विरोध समाप्त होते प्रतीत होते हैं तथा साम्राज्यवाद के विरुद्ध निर्भ्रान्त दृष्टि साहित्यकार-पत्रकार अपनाते हैं। द्विवेदी जी के चिंतन के आधारभूत तत्वों की विवेचना करते हुए डॉ.रामविलास शर्मा ने लिखा है, ''द्विवेदी जी अंग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रबल विरोधी थे। वह बुद्धिवाद और वैज्ञानिक विचार पद्धति के समर्थक थे और रहस्यवाद के विरोधी थे। वह भारत के उद्योगीकरण के पक्षपाती थे। चरखे करघे के आधार पर भारतीय अर्थतंत्र पुराने ढ़ंग से गठित हो, इसके वह कायल न थे।''१९

महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा उनके समकालीन लेखकों-पत्रकारों के विचार में भारत की निर्धनता का प्रमुख कारण अंग्रेजी राज है। 'सम्पत्तिशास्त्र' में आ. द्विवेदी ने सैद्धान्तिक आर्थिक चिन्तन के स्थान पर भारतीय पराधीनता तथा तज्जन्य विपन्नता तथा दुरवस्था के व्यावहारिक विवेचन का रास्ता पकड़ा था। उन्होंने शास्त्र का सम्बन्ध व्यवहार से जोड़ते हुए वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया था। कई विश्लेषक अंग्रेजी राज की आर्थिक भूमिका को पूंजीवादी शोषण का एक रूप मानते हैं, परन्तु यह उचित नहीं। अंग्रेजों ने भूस्वामित्व की इजारेदारी कायम कर एक नवसामंती व्यवस्था को जन्म दिया। ''भूमि व्यवस्था में पूंजीवादी सम्बन्ध कायम रखने की माँग कर रहे थे भारत के अर्थशास्त्री, उसका विरोध कर रहे थे अंग्रेज।''[२०] सामंतवाद को

साम्राज्यवाद प्रश्रय दे रहा था, इस बात का आभास भारतेन्दुयुगीन लेखकों को भी था, परन्तु द्विवेदी युग में आकर उसका स्वरूप अधिक स्पष्ट हो गया। अगस्त, १९१५ की ''सरस्वती'' में ईश्वरदास मारवाड़ी का एक लम्बा लेख प्रकाशित हुआ था, जिसका शीर्षक था ''भारतीय किसानों के उद्धार का उपाय''। इसमें ईश्वर दास ने लिखा था ''भारतीय किसानों को लगान बढ़ने के कारण ही कष्ट नहीं। बड़ी कड़ाई से लगान बढ़ाने और उसे वसूल करने से भी उन्हें बहुत कष्ट मिल रहा है।''[२१]

लगान देने के लिए किसानों को कर्ज लेना पड़ता था। यह ऋण महाजनों द्वारा मनमाने ब्याज दरों पर दिया जाता था। कर्ज वसूली में अंग्रेज न्यायव्यवस्था महाजनों का ही साथ देती थी। अंग्रेजी राज में जितने व्यापक पैमाने पर सूदखोरी हुई वह पहले कभी न हुई थी। इस तरह की सूदखोरी सांमतवाद की विशेषता है। सूदखोरी महाजनों को अंग्रेज प्रश्रय दे रहे थे। १८५० से १८७५ ई. के बीच दुर्भिक्षों से ५० लाख लोगों की अकाल मृत्यु हुई। द्विवेदी जी ने भारतीय अर्थतंत्र की मूल समस्या को पहचान लिया था एवं वे जमीन पर किसानों का मौरूसी हक चाहते थे। ''जमीन पर किसान का अधिकार हुए बिना अंग्रजों की जमींदारी खत्म न की जा सकती थी, ब्रिटिश साम्राज्यवाद की मजबूत नींव को जड़ से खोदकर फेंका न जा सकता था।''[२२]

द्विवेदी जी वैज्ञानिक शिक्षा के हिमायती थे, जापान का उदाहरण देकर वैज्ञानिक शिक्षा की अनिवार्यता पर उन्होंने बल दिया था। अगस्त, १९०५ की ''सरस्वती'' में ''जापान की जीत का कारण'' लेख छपा था। लेख में लेखक का नाम नहीं है, पर अनुमान है कि यह लेख आचार्य द्विवेदी का ही लिखा हुआ था। रूस-जापान युद्ध में जापान की जीत का कारण बातते हुए उनसे भारत को सीख लेने की बात कही गई है। ''यह निश्चय करके जापान ने जातिभेद को उठा दिया। सामाजिक दृष्टि से किसान और प्रधानमंत्री एक हो गए। सब जापानी एक सामाजिक सूत्र में बँध गए।''[२३]

इस लेख के माध्यम से यह संदेश दिया गया था कि जब तक भारतीय जनता जाति-पाँत के बन्धनों से मुक्त नहीं होती यूरोप का मुकाबला वह नहीं कर सकती। इसी निबन्ध में जापान की युद्ध कला, नौवहन पोत निर्माण कला आदि की प्रशंसा की गई है। इस पूरे लेख का तात्पर्य यह था कि वैज्ञानिक शिक्षा से भारत तभी लाभान्वित हो सकता है, जब वह अपनी रूढ़ियों और अंधविश्वासों से मुक्ति पाए। जब तक भारतीय समाज व्यवस्था वर्ण, जाति, छूआछूत आदि कुरीतियों और कुसंस्कारों में जकड़ी है, तब तक भारत का एक प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र के रूप में उभरना संभव नहीं। जातीय चेतना के सुदृढ़ीकरण में यथार्थवाद और स्वच्छंदतावाद का प्रसार तथा रीतिवादी रहस्यवादी प्रवृत्तियों का निषेध भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। द्विवेदीयुगीन सामग्री की इस भूमिका के बारे में डॉ.रामविलास शर्मा ने लिखा है ''सरस्वती'','मर्यादा' तथा हिंदी की अन्य पत्र-पत्रिकाओं में इस समय जो सामग्री निकली, उससे यदि ''सुधा'' और ''हंस'' में निराला और प्रेमचंद के लेखों की तुलना करें, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा कि प्रेमचंद की यथार्थवादी धारा और निराला की छायावादी धारा दोनों ही द्विवेदी युग से जुड़ी हुई हैं।''[२४] वस्तुतः नवजागरणकालीन साम्राज्य-सांमत विरोधी चेतना भारतेन्दु युग से लेकर निराला-प्रेमचंद आ. शुक्ल युग तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती रही है। भारतेन्दु युग के कई लेखकों का उत्तर काल द्विवेदी युग में समा जाता है। दोनों युग के रचनाकारों के वृत्तों के निर्माण का आधार भी अलग-अलग हैं। भारतेन्दु मण्डल में आत्मीयता का भाव अधिक है जबकि द्विवेदी युग में अनुशासन का। भारतेन्दु तथा द्विवेदी जी के व्यक्तित्वों में अंतर भी था। ''भारतेन्दु के व्यक्तित्व में

बंगाल की कोमलता और भावुकता थी, आचार्य द्विवेदी के व्यक्तित्व में महाराष्ट्र की कठोरता और वस्तून्मुखता।''[२५]

हिंदी क्षेत्र के पुनर्जागरण ने रचनात्मक स्तर पर दोनों सहयोगी प्रभावों को ग्रहण किया। ऊपर द्विवेदी जी के जिस साम्राज्यवाद और सांमतविरोधी लेखन की चर्चा की गई है, उसका सीधा सम्बन्ध मैथिलीशरण गुप्त के काव्य लेखन तथा प्रेमचंद के कथा संसार से है। दोनों के रचनात्मक कृतित्वों की रूपरेखाएं द्विवेदी जी के गद्य लेखन में स्पष्ट होती हैं। भारतेन्दु युग के बाद हिंदी क्षेत्र में शिक्षा तथा साक्षरता का प्रसार हुआ। भारतेन्दु युग में कविता की भाषा में ब्रजभाषा-खड़ी बोली का द्वैत बना हुआ था, जबकि गद्य के क्षेत्र में खड़ी बोली पूर्णतः प्रतिष्ठित हो चुकी थी। द्विवेदी युग में आकर खड़ी बोली काव्य तथा गद्य दोनों की केन्द्रीय भाषा बन चुकी थी। काव्यभाषा के इस आधार परिवर्तन ने हिंदी की संवेदना को विशेषतः काव्य के संदर्भ में एक नया अर्थसंस्कार और बोध प्रदान किया। शिक्षा और नए-नए व्यवसायों के उद्‌भव ने देश में एक नए मध्यवर्ग को जन्म दिया जो आर्थिक राजनीतिक सुधारों के साथ-साथ देश की स्वाधीनता के लिए भी प्रयत्नरत हुआ। द्विवेदी युग के लेखकों का वर्ग आधार यही मध्यवर्ग है, जिनसे वे सम्बोधित भी हैं। मध्यवर्ग पर इस काल के लेखकों की निर्भरता ने भारतेन्दु युग के लेखकों में लोकप्रिय लोक रूपों आल्हा, कजली, लावनी आदि के परित्याग की ओर अभिमुख किया। द्विवेदी युगीन रचनाधर्मिता दृश्य-श्रव्य रूपों के स्थान पर पाठ्य रूपों को अधिक महत्व देती है। शिष्ट सर्जनात्मक रूपों पर उसका अधिक जोर है। कविता, उपन्यास और कहानी विधा का स्वरूप इस काल में अधिक निखरता है। ''जीवन की पाठशाला का सतत विद्यार्थी रहने के लिए वह पत्रकारिता का साथ नहीं छोड़ता।''[२६]

द्विवेदी युगीन कविता में क्लासिक तथा रोमांटिक दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। स्वच्छंदतावादी धारा को स्थापित करने में श्रीधर पाठक का महत्वपूर्ण स्थान है, जिन्होंने सर्वप्रथम इस समस्या का सामना रचनात्मक स्तर पर किया। द्विवेदी युग में हिंदी जातीय भाषा के उत्थान में जिन दो संस्थाओं का सर्वाधिक योगदान है, वे है 'सरस्वती' और 'नागरी प्रचारिणी सभा' 'सरस्वती' ने काफी लम्बे समय तक अपने निबन्धों, टिप्पणियों और अन्य प्रकाशित सामग्री के माध्यम से हिंदी क्षेत्र में जातीय भावना तथा राष्ट्रीय चेतना के उत्थान का नेतृत्व किया। अपने प्रकाशन वर्षों में यह सम्पूर्ण हिंदी भाषी जनता की आशा-आकांक्षा और सांस्कृतिक सामाजिक उन्मेष का अग्रणी माध्यम बनी रही।

१८९३ ई. में स्थापित नागरी प्रचारिणी सभा ने हिंदी को व्यवस्थित रूप देने के द्विवेदी युग के प्रयत्नों में संपूरक भूमिका निभाई। व्याकरण, साहित्येतिहास और कोशों की रचना के माध्यम से हिंदी को परिष्कृत, परिमार्जित और व्याकरणसम्मत मानक रूप प्रदान करने में इस संस्था का महत्वपूर्ण योगदान है। द्विवेदी जी और बाबू श्यामसुंदरदास के सम्मिलित योगदान ने हिंदी भाषा और साहित्य को वयस्कता और मानकता प्रदान की जो कालांतर में उसके राष्ट्रभाषा के रूप में देशव्यापी प्रसार में सहायक सिद्ध हुई।

इस तरह हम देखते हैं कि नवजागरण के तृतीय चरण अर्थात द्विवेदी युग में भी जातीय उत्थान और राष्ट्रीय चेतना की वह धारा प्रवाहित होती रही जो भारतेन्दु युग में उद्‌भूत हुई थी। इस युग में जिस बात पर अधिक बल दिया गया वह भाषा का पक्ष था, जिसमें परिष्करण परिमार्जन और व्याकरणसम्मतता का पक्ष था, जिसकी अनिवार्यता भाषा के एक बड़े भौगोलिक क्षेत्र में प्रयुक्ति तथा ज्ञानात्मक साहित्य में उपयोग की संभावना से उपजी थी। द्विवेदी युग के

उत्तरकालीन स्वच्छंदतावादी साहित्य में तीव्रतर होते राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम और साम्राज्य विरोध की प्रतिध्वनि के अलावा राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की तीव्र आकांक्षा मिलती है। इस काल में आकार भारतीय काव्य का लुप्त उदात्त स्वर पुनः सुनाई देता है। इस धारा के प्रमुख रचनाकारों का सृजन द्विवेदी युग में ही आरम्भ होता है। इस युग के प्रमुख रचनाकार हैं सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद और रामचन्द्र शुक्ल। निराला के काव्य में ट्रैजिक तत्व मिलते हैं। मनुष्य के संघर्ष के कलात्मक चित्रण के द्वारा उदात्त की सृष्टि निराला का महान कृतित्व है। उनके साहित्य में सामाजिक चेतना के साथ-साथ शक्ति की मौलिक कल्पना का आह्वान है, जो देश की पराधीनता के संदर्भ में और भी महत्वपूर्ण हो जाती है।

तत्कालीन लेखकों में समाज के व्यापक स्तर का ज्ञान प्रेमचंद में मिलता है। समाज के वास्तविक स्वरूप को पहचान कर उन्होंने उसे ''महाजनी सभ्यता'' कहा था। इस सभ्यता में पैसे का स्थान सर्वोपरि है। इस सभ्यता ने समाज को दो अंगों में बाँट दिया है, जिनमें एक हड़पने वाला है, दूसरा हड़पा जाने वाला। प्रेमचंद का सामाजिक विश्लेषण महज सुधारवादी नहीं, बल्कि क्रांतिकारी था। ''प्रेमचंद ने महाजनी सभ्यता के इन स्तभों को, जमींदारों, राजकर्मचारियों और महाजनों का उधेड़-उधेड़कर हमारे सामने उनकी वीभत्सता में खड़ा कर दिया है जिससे हम अपनी सभ्यता की इमारत ढाहकर उसकी जगह एक नयी इमारत बनाने के लिए बाध्य हों।''[२७] प्रेमचंद ने अपने कथा साहित्य के माध्यम से तत्कालीन जातीय एवं राष्ट्रीय समस्याओं का अत्यंत गहन एवं विशेद चित्रण किया। इनके समय तक आते-आते उपन्यास वयस्कता और किसान जीवन की महागाथा का स्तर प्राप्त कर लेता है। यथार्थ को घटनात्मक स्तर से अनुभूतिपरक बनाने का श्रेय प्रेमचंद को है। जातीय भाषा के एकीकरण तथा हिंदी-उर्दू विरोध की समस्या पर विचार करना तथा बोलचाल की हिंदी-उर्दू मिश्रित सामान्य गद्यभाषा का प्रयोग उनकी अन्यतम विशिष्टता है। प्रेमचंद अपनी रचना प्रक्रिया में भाषा का सम्पूर्णतः दोहन कर लेते हैं। पुनर्जागरण की एक प्रमुख प्रवृत्ति भारतीय और पाश्चात्य चिंतन की टकराहट तथा दोनों के स्पृहणीय तत्वों का सम्मिश्रण है। प्रेमचंद ने गाँधी और मार्क्स की विचार सरणियों का अपने रचनाविधान में सार्थक उपयोग किया है। प्रेमचंद के साहित्य में हिंदीभाषी समाज अपने पूरे विस्तार में, अपनी शक्ति तथा सीमाओं के साथ मौजूद है। अपने पूरे साहित्य के माध्यम से उन्होंने साम्राज्य विरोधी, सांमत विरोधी चेतना का प्रसार किया। हिंदी तथा उर्दू के रूप में जातीय भाषा के दो स्वरूपों की समस्या पर उनका चिंतन अत्यंत यथार्थपरक है। अपना प्रारम्भिक लेखन उर्दू के माध्यम से शुरू करने के कारण वे इस समस्या से भली भाँति परिचित थे। नवजागरण एवं जातीय संस्कृति की विशिष्टताएं एवं उनकी समस्याएं प्रेमचंद की रचना दृष्टि का अनिवार्य अंग हैं। वे सच्चे अर्थों में हिंदी के जातीय साहित्यकार हैं।

पुनर्जागरण के संदर्भ में पूर्व तथा पश्चिम की दृष्टि की टकराहट तथा संयोजन जयशंकर प्रसाद के साहित्य विशेषतः नाटकों में मिलती है। प्रसादजी के नाटकों का मूलाधार राष्ट्रीय भावों की अभिव्यक्ति है। प्रसाद जी के साहित्य में विषमता की पीड़ा और समरसता का दर्शन मिलता है। ''प्रसाद का विश्लेषण था कि आधुनिक काल में सामाजिक समरसता और राष्ट्रीयता के आड़े तीन बाधाएं आती हैं- साम्प्रदायिकता की भावना, प्रादेशिकता के तनाव तथा पुरुष-नारी के बीच असमानता की स्थिति।''[२८] अपने नाटकों में उन्होंने इसका समाधान देने की चेष्टा की है। यद्यपि अपने प्रारम्भिक साहित्य में किंचित रहस्यवादी होते हुए भी ३० के दशक में हिंदी कथा साहित्य में आए यथार्थवाद से प्रसाद जी अपने को विच्छिन्न नहीं कर पाते। ''तितली'' उपन्यास में उन्होंने

अपने सामाजिक विचारों को मूर्त रूप दिया। प्रसाद जी ने ''तितली'' में पराधीनता और निर्धनता के चित्र खींचे। उन्होंने विदेशी शासन में देश की विपन्नता और निर्धनता को चित्रित किया। ''प्रसाद साहित्य हिंदी भाषी जनता की मूल्यवान विरासत है। उसके आधार पर हम कह सकते हैं कि इस संसार को सत्य समझना, पीड़ित जनता का समर्थन करना, अन्याय का सक्रिय विरोध करना, साहित्य में उदासीन और तटस्थ न रहकर सामाजिक विकास में सक्रिय योग देना यह सब भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही है, उसका सहज विकास है।''[२६]

इस तरह नवजागरणकालीन समूचे साहित्य को देखने पर उसमें कुछ मूल सूत्र प्राप्त होते हैं, जैसे साम्राज्य, सांमत विरोध रूढ़ियों और कुसंस्कारों का उन्मूलन, जातीय भाषा के रूप में हिंदी उर्दू की एकता, राष्ट्रीय चेतना का प्रसार आदि। ये सूत्र क्रमशः सुदृढ़ होते जाते हैं।

१९वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दु ने नए ढंग के हिंदी साहित्य का विकास किया जो रीतिवादी संवेदना से मुक्त होता है, यद्यपि कुछ लक्षण उसमें रीतिवाद के रह जाते हैं, जिनकी समाप्ति क्रमशः द्विवेदी युग और स्वच्छंदतावादी युग में होती है। भारतेन्दु युगीन साम्राज्यवाद विरोध की चेतना को २०वीं सदी के आरम्भ में आगे बढ़ाने का कार्य आ. महावीर प्रसाद द्विवेदी ने संभाला। ''सरस्वती'' के माध्यम से उन्होंने एक लेखक वृत्त का निर्माण किया, जिन्होंने साहित्य रचना के माध्यम से जातीय तथा राष्ट्रीय चेतना को सशक्त रूप दिया। इस युग के रचनाकारों ने हिंदी के जातीय स्वरूप की रक्षा करते हुए उर्दू के प्रचलित शब्दों का निःसंकोच प्रयोग किया। इस युग के साहित्य ने परवर्ती विकास के लिए पटभूमि तैयार कर दी। द्विवेदी युग के लेखक प्रेमचंद ने १९२० से १९३६ के बीच अपने सृजन का सर्वश्रेष्ठ दिया। किसान जीवन की गाथा के द्वारा उन्होंने भारत की अंतरात्मा के कष्टक्लेश को छुआ। ''किसान संघर्षों से सम्बन्धित प्रेमचंद का कथा साहित्य ही सही अर्थ में भारत का क्रांतिकारी साहित्य है, और यह साहित्य, समकालीन राजनीतिक आंदोलनों से बहुत आगे बढ़ा हुआ है।''३०

प्रेमचंद के समकालीन कवि निराला भी क्रांतिकारी साहित्यिक दिशा के रचनाकार हैं। वे रूढ़ियों का नाश और सामाजिक न्याय की पक्षधरता के कवि हैं। सामाजिक चेतना के प्रसार के साथ उनकी कृतियाँ महान कलात्मक उपलब्धियाँ हैं। नवजागरण काल के समूचे हिंदी साहित्य में हिंदी भाषी जनता की संस्कृति ही चित्रित हुई है। यह भारतीय संस्कृति का ही एक अंग है। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ही हिंदी के नवजागरण कालीन साहित्य में पराधीनता से मुक्ति की उत्कट इच्छा व्यक्त हुई है।

संदर्भ

१. नया मानदंड, सं. कुसुम चतुर्वेदी, अक्टूबर-दिसम्बर, २०००, पृ.१७
२. उपर्युक्त पृ.१८
३. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ.४६-४८
४. नया मानदंड, अक्टूबर-दिसम्बर, २०००, पृ.१८
५. वही-पृ.१८
६. रामविलास शर्मा, भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश भाग-२ पृ.५९५

७. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु हरिश्चंद्र और हिंदी नवजागरण की समस्याएं, पृ.३७
८. भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश -भाग-२, पृ.३८३
९. वही- पृ.३८४
१०. वही- पृ.३८७
११. रामविलास शर्मा, भारतेन्दु युग और हिंदी भाषा की विकास परम्परा, पृ.३२
१२. वही- पृ.६३
१३. वही- पृ.६८
१४. रामकुमार सिंह, आधुनिक हिंदी काव्यभाषा, पृ. २७६
१५. श्रीकृष्णलाल, आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास, पृ.१६
१६. जसपाली चौहान, भारतेन्दु युग की शब्द सम्पदा, पृ.१०१
१७. मीरारानी बल, राष्ट्रीय नवजागरण और हिंदी पत्रकारिता, पृ.२४३
१८. वही- पृ.२५३
१९. रामविलास शर्मा, म.प्र. द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, पृ.१८
२०. वही- पृ.२४
२१. वही- पृ.२५
२२. वही- पृ.३०
२३. वही- पृ.४८
२४. वही- पृ.७३
२५. रामस्वरूप चतुर्वेदी हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.९१
२६. वही- पृ.९२
२७. रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृ.१४४
२८. हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, पृ.१५३
२९. परम्परा का मूल्यांकन, पृ. १४२
३०. वही- पृ.२७

प्रयाग शुक्ल की कविताएँ

आलिंगन

आलिंगन हवाओं का।

और ऐसा भी कि गुजर ही
न सके हवा बीच उसके।

और वह भी कि
हल्का हो स्पर्श।
हो बस सरसराहट एक
वस्त्रों की।
कंधे पर पीठ पर हल्की-सी एक थाप।

कुछ है आलिंगन में
जो यों दिखता नहीं
अपने भी पार चला जाता पर।
अदृश्य कुछ सौम्य मधुर
आता उतर दो के मिल जाने पर
वापस आ भिन्न दो दिशाओं से।

शहर की नदी

वह शांत नदी मैली मौन।

हम पुल से गुजर जाते हैं-
पूछने-पूछने को होती है वह,
"है कौन?" (मुझको निहारता)

गिरती हैं उसके कम पानी पर
किरणें सूरज की,
खींचती हुई एक लंबी लकीर।
उड़ती हुई चिड़िया भी
मुड़ जाती हैं
किसी और ही ओर।

बत्तियाँ जलती हैं सड़कों की।
दौड़ती रहती हैं बसें कारें।
घिरता है अँधेरा।
फिर वह पूछ ही नहीं पाती
"है कौन?"

शांत नदी मैली मौन।

हँसी

जब खिल उठते हैं फूल की तरह होंठ-
उसे ही नाम देते हैं हम हँसी का।
वह हिलती रहती है किसी
पंखुड़ी पर खिले फूल की तरह ही।
थोड़ी देर के लिए-
(अट्टहास और स्मिति से भिन्न)
मन और शरीर का अनोखा मेल है वह!
(जब तक खिलें नहीं दोनों
वह फूटती नहीं)
प्रेम की अतल गहराइयों की लहरियाँ
ले आती ऊपर-
ठहर-ठहर भी खिल पड़ती
कभी-कभी।
जब भी उभरती वह,
स्वाद एक जीवन का नया
ले आती है-
शब्दों को लेती है थाम।
(उन्हें देती विश्राम)
खिल खिल पड़ती

खिलखिलाती
हँसी!
अपनी इच्छा से।
पुकारने भर से नहीं आती-
हालाँकि यही तो है उसका नाम-
हँसी!

मेघालय में

भला कभी होता है मेघों
का भी घर!
वे तो विचरते हैं यहाँ-वहाँ
सैलानी!
दूत बनेः
''आयी लो वर्षा''
यह कहते हुए गरज कर।
या फिर लेकर संदेश
किसी प्रिय/प्रिया का
विरह व्याकुल की देने की
सांत्वना!
कृषकों को प्रायः कुछ हर्ष,
भरने को नद-नदियाँ।

पर, यह भी सुंदर है,
कोई तो हो उनका घर,
कोई तो हो पिनकोड,
और नाम पट उनका भी-

जैसे है मेघालय!

तैरना

बढ़ता जाता हूँ आगे-
कभी पीठ कभी पेट के बल
फैलाये हाथ

जल ही जल
न हृदय भारी न शरीर
विश्राम स्मृतियों को।

ऊपर आकाश
हवा के झोंके कुछ
छप छप छप
उड़कर चले जाते पक्षी कुछ
सुख-दुःख नहीं दूर
थोड़ा परे लेकिन-
हर पल
जल ही जल
ऊपर आकाश!

ये जो शहर बसे हैं पुराने

ये जो शहर बसे हैं पुराने
कानपुर कोलकाता लखनऊ काशी कालीकट
मदुरै दिखतीं जब इनकी छतें
किसी तसवीर में फिल्म में
चित्र में- समय फरफराता है
किसी पतंग-सा
कितनी गलियाँ जिंदगियाँ कितनी
कितने प्रेम कितनी गृहस्थियाँ-
गंगा गोमती के घाटों की
सीढ़ियाँ-
चढ़ते-उतरते पात्र
कितने ही उपन्यास
कहानियाँ- लिखित अलिखित।
ट्रेनों स्टीमरों की बज उठती सीटियाँ!

ये जो शहर बसे हैं पुराने-
कैसी एक माया-सी आती
इन पर, मोह एक कैसा
हो आता है-

कैसी एक दशा-दुर्दशा भी
ही आती इनकी याद।

शहर जो बसे हैं पुराने-
वे मन में क्या-क्या
कौंधा जाते हैंः गुजरता समय
धूप या चाँदनी वर्षाः
जैसे अभी एक फिल्म में
दिखतीं कुछ छतें
कौंधा गयीं!

सुंदर शाम

बच्चे खेलते हैं।
कुछ और भी आ जाते बाहर
लेकर साइकिलें अपनी।
तन-सी जाती हैं उनकी गरदने।
कभी छोटे कभी लंबे
हो जाते हैं पेड़ों के तने-
उनके साथ।

ऐसी भी होती है शाम
सुंदर अब भी-
सोचता है बूढ़ा बैठा
एक बेंच पर।

युवती एक आती है
हवा के साथ।
और एक झोंके की ओर
झुक जाती है।
चल पड़ती है अपने में-
जैसी किसी सपने में।
उसके वे होंठ-
जिन पर फैल-सी जाती है
शाम की लाली
स्मिति बनकर!

जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ

मिलन स्वप्न

बहुत दिनों बाद
आज फिर दोनों एक साथ थे रवीन्द्र बाबू की देह पर
हालांकि रंग उतर गया था दोनों का थोड़ा-थोड़ा

वे अपलक निहार रहे थे एक दूसरे को डबडबाई आँखों से
जहाँ झिलमिला रही थी एक लम्बी प्रतीक्षा
कंठ अवरूद्ध थे
जबकि बातें बहुत थीं उनके पास एक दूसरे के लिए

उन्होंने कसकर पकड़ लिया था एक दूसरे का सिरा
जैसे बाँह हो वह

फिर धीरे-धीरे हुए सहज
और याद करने लगे बीता वक्त

कभी खरीदे गए थे दोनों एक साथ जोड़ीदार की तरह
और रहे भी लगभग दो साल जोड़ीदार की तरह

वे बुने गए थे अलग-अलग कम्पनियों में
अलग-अलग दर्जियों ने सिला था उन्हें
दुकान में भी वे रखे गए थे अलग-अलग खानों में
पर बिके जब साथ-साथ
और पहने गए एक साथ
तब देखने वालों ने खूब सराहा उन्हें
पसन्द किया जोड़ीदार की तरह

कहा कुछ लोगों ने रवीन्द्र बाबू से
अचूक है आपकी दृष्टि

कमाल का है ''ड्रेस सेंस''
लगता है जैसे एक दूसरे के लिए ही बने हैं ये दोनों
इनको पहनकर निखर जाते हैं आप भी

लेकिन सब दिन एक समान कहाँ होते हैं
पहले रंग उतरा पैंट का
वह कुछ-कुछ पुराना-सा दिखने लगा
शर्ट की तुलना में

कहने लगे लोग रवीन्द्र बाबू से
अब छोड़िये इनका मोह
बहुत पहन लिया आपने इनको
अब रिटायर भी कीजिए महोदय!

और इस तरह रियाटर हुए थे वे दोनों
लेकिन जैसे हर रिटायर के जिम्मे
होते हैं कुछ काम
वैसे ही वे भी पहने गए अलग-अलग कभी-कभी

वे तरसते रहे एक दूजे के लिए
और हाय री किस्मत
कि कभी मिल न पाए आलमारी में भी
पर अटका रहा उनका प्राण एक दूसरे में
मन की पुतलियों में बसा रहा मिलन स्वप्न।

शमशेर

शमशेर
शमशेर
शमशेर
कालहोड़ कवि
शमशेर
शमशेर

लौटता है फिर वहीं
तट पर
देखता भौंचक्क
कोई नहीं अकेला

अबकी मेला
वे भी आगे
कभी जिन्होंने ठेला

चारों ओर हल्ला-गुल्ला
कैसे-कैसे पंडित कैसे-कैसे मुल्ला
कुछ लोग चबा रहे हैं
मजे का रसगुल्ला

अर्थ अभी बाकी है शब्दों में
जूझ रहे हैं सब ऊपर-झापर
डर भारी है डूबने का

आखिर कौन करे साहस!
सब नहीं होते शमशेर

शमशेर
शमशेर
शमशेर

मेला
मेला
मेला

रेला
रेला
रेला
केवल रेला
पर था अकेला है अकेला कवि अकेला

कवि
कवि
कवि शमशेर।

इंतजार

वर्षों पहले जे.एन.यू. में पढ़ते हुए
सोचा था
यदि रहूँ दिल्ली में

तो मिले मुझे भी घर लान वाला

मैं भी उगाऊँ एक कोने में कुछ सब्जियाँ
किनारे-किनारे लगाऊँ गुलाब, गुड़हल, हरसिंगार
कहीं दो-चार पौधे गेंदे के भी
और हो सके तो एक पेड़ आम का और एक अमरूद का भी

जो सोचा था
वह सच हुआ एक दिन
मेरी सोच से
कहीं बड़ा मिला लान

मैंने सब लगाया
अनार भी
जिसमें खूब आए फूल
सपनों की हँसी जैसे

आम भी लदा बौर से
टिकोरे आए
पर बात चटनी तक ही रह गयी
ओले ने कर दिया तहस-नहस

पर जाड़े वाला अमरूद खूब फूला-फला इस साल
कुछ हमने खाए कुछ बन्दरों ने

स्वाद ने तृप्त किया आत्मा को
अब हम इंतजार में है
अगले मौसमों के।

स्मृतियाँ

स्मृतियाँ सूने पड़े घरों की तरह होती हैं
लगता है जैसे
बीत गया सब कुछ
पर बीतता नहीं है कुछ भी

आदमी जब तैर रहा होता है
अपने वर्तमान के समुद्र में
अचानक स्मृतियों का ज्वार आता है

और कुछ समय के लिए
सब कुछ बदल देता है

अचानक बेमानी लगने लगता है
तब तक सबसे अर्थवान लगने वाला प्रसंग
और जिसे हम छोड़ आए होते हैं
बहुत पीछे अप्रासंगिक समझकर
वह जीवन की तरह मूल्यवान लगने लगता है

बहुत से संबंध और बहुत से मित्र
जो छूट गए होते हैं आंकड़ों की गणित में
अचानक किसी दिन सिरहाने खड़े मिलते हैं

कुछ चिट्ठियाँ निकलती हैं पुराने बक्सों
और बन्द पड़ी आलमारियों से
और उनमें लिखी तहरीरें
दिखा जाती हैं आइना

बीता हुआ कल
वहीं दुबका बैठा मिलता है
कभी हाथ मिलाने को बढ़ आता है उत्सुक
कभी छुपा लेता है नज़रें

कुछ लोगों को लगता है
जैसे स्मृतियाँ पीछे ले जाती है हमें
लेकिन ऐसा होता नहीं है
स्मृतियाँ अक्सर तब आती हैं
अब सूख रहा होता है
अन्तर का कोई कोना

सूखे के उस मौसम में
वे आती हैं बरखा की तरह
और चली जाती हैं
मन उपवन को सींचकर।

धीरे-धीरे

घड़ी बन्द हुई जब कमरे की
कोई अन्तर नहीं आया देखने की आदत में
जब भी जानना हुआ समय
निगाहें बार-बार गईं उस ओर
जैसे वहाँ इन्तजार हो कोई
बिल्कुल वैसे ही जैसे
उसके बहुत दूर निकल जाने के बाद भी
उसके घर की राहें मेरे कदम अगोरती-सी जान पड़ती थीं

धीरे-धीरे बदल जाती हैं आदतें
जीवन का सच घुल जाता है उनमें
बहुत कम लोग होते हैं जो घोल लेते हैं
अपने रक्त में
किसी काम के न रह गए छूटे वक्त को भी

माना कि इस दुनिया में बस उन्हीं का जैकारा है
जो दौड़ रहे हैं बहुत तेजबहुत तेज
जो जीत रहे हैं हर बाजी
जिनकी आदत बन गई है जीतना
पर यह भी तो सच है
कोई जीतता है तो हारता है कोई
और जो हारता है वह भी होता है उतना ही मनुष्य
और जरूरी नहीं कि हर काल में
माना जाए उसकी हार को हार

जीतने के प्रतिमान बदल भी सकते हैं कभी
कभी बदल सकते हैं चलने के भी मेयार
इसलिए किसी सच को मान लेना स्थाई सच
समय की नदी में नहाने से बचने का मार्ग तलाशना है।

उजास : कुछ कविताएं

एक

कुछ दूर तक मैदान
मैदानों में घास
घासों पर पानी
फिर टीले दूर तक
पत्थरों पर पानी
धूप चाँदी खिली-खिली
सुन्दर बहुत सुन्दर
वसन्त की रवानी।

दो

कनेर की एक डाली
झुकी दूसरी डाली पर

कड़की बिजुरी बहुत जोर
चली पुरवा टूटा पोर-पोर

एक फूल ने भर लिया
दूसरे फूल को अंकवारी में।

तीन

तुम्हारी पुतलियाँ
मेरा मन

तुम्हारी उँगलियाँ
मेरे बाल

हम दोनों का होना
बताए चाल-ढाल।

चार

किताब का एक पन्ना
फूल का हल्का-सा रंग
होठों की बिजुरी

आंखों का इन्द्रधनुष
किसी की क्षण भर की छुवन
प्रीति की चुभन

मन की लालसा
जीवन-दर-जीवन।

पाँच

चिठ्ठी बातें
या पुरानी

कितने सपने
कितना पानी
आँखों में जो बच जाए
जीवन-सा रच जाए।

छः

निवेदन
ओरहन

रथ प्रेम का
पहिए दो।

सात

अधर खुले उसके
जगह बनी
हवा जाने भर की

शब्द निकला एक
मंदिर में घण्टियाँ बज उठीं अनेक।

आठ

झरोखे से झाँकता है चाँद
कांपती है ओस भीगी दूब

पल-छिन दो आँखें झांकती हैं आंगन में

कितनी रात गई
कितने सपने
मन कुहुके-पीऊ-पीऊ।

नौ

तुम्हें फूल होना था
तुम पत्ती हुई

मुझे रंग होना था
मैं पानी हुआ

पानी-पानी जवानी-ज़िन्दगानी हुई।

दस

लाल चुनरिया
ओढ़ सँवरिया
विचर रही है खेतों में

हरियर-हरियर फसलों में
पीयर-पीयर माटी में।

ग्यारह

कहीं पहाड़
कहीं धूल ही धूल
कहीं फूल
कहीं शूल ही शूल

हिलता है चूल
मन का
तन का
प्रेमी निर्धन का।

बारह

तुम हँसीं और नन्दा देवी की चोटियों पर
खिल उठी धूप
पसर गया उजास पर्वत प्रदेश में
जैसे पसरता है मेरे मन में।

वसंत त्रिपाठी की कविताएँ

सड़कें

कुछ सड़कें सौगात में मिलती हैं
कुछ सड़कें
जिन्हें हम देखते हैं
अपनी ही उम्र में बनते हुए

कुछ डामर वाली, सीमेंट की कुछ
कुछ ऐसी जिन्हें छोड़ दिया गया अधूरा

जंगल से गुजरती है एक लंबी चिकनी सड़क
एक आपकी गली तक आते-आते
हाँफने लगती है
एक रोज सबेरे बुहारी जाती है
एक रोती रहती है ताउम्र
कि उसके बनने में लोगों के उजड़ने की
दारुण कथा दफन है

कवि!
कौन-सी है तुम्हारी सड़क
क्या वह कोई पगडंडी है
या राजमार्ग
क्या उस पर सूखी पत्तियाँ अब भी झरती हैं
क्या बारिश उसे धोती है अब भी
क्या तुम्हारी सड़क
किसी दूसरी सड़क से भी मिलती है
क्या लोग उस पर चलते हैं बेखौफ

यदि नहीं
तो लिख दो उस पर
'यह आम रास्ता नहीं है'
तुम उस पर चलो चाहे लेटो
करे क्यों तुम्हारी परवाह कोई?

अक्टूबर के आरंभ की बरसती साँझ

यह अक्टूबर के आरंभ की
बरसती साँझ है

स्थगित मेघों ने डाल दिया है
आसमान में डेरा
पहले गरजे भयंकर
चिंग्घाड़ उठे हों
हाथियों के झुंड जैसे क्षितिज में
लंबे सफेद दाँतों-सी कड़कदार बिजली
काली विशाल देह
धूमिल अँधेरे का विस्तार

ऋतु-चक्र में परिवर्तन की इस बेला में
सावन के आवारा मेघ
भटकते हुए आए हैं
पृथ्वी का पता पूछते

बरसो हे मेघ
जल्दी बरसकर खाली करो
शरद के लिए आसमानी सिंहासन
कि शरद अब आता होगा
आती होगी उसकी ओस टपकाती देह
भरी-भरी हरी पृथ्वी
अब ठंडी चाँदनी से नहाएगी

धान को अभी पकना है
सुनहरा होना है
किसानों के बैरी न बनो मेघ

बरसो, बरसकर खाली करो गगन
हे अक्टूबर के अनाहूत मेघ!

परजित भाषा-विमर्श

हज़ार आँखों से देखी गयी हिंसा
और एक बेचारी जीभ
अब वह स्वाद से पीछा छुड़ाए
तो कहे कुछ

और कहे भी कैसे
जो भाषा उसे आती है
बुद्धि-विलासियों के लिए उसका मूल्य
दो कौड़ी भी नहीं

उजली कल्पना के पाथर पंखों की पीठ पर सवार
शब्दों को सितार की तरह बजाती
च्युंगम की तरह चबाती
बेचारी पराजित जीभ
जब निकलती है सड़कों पर कुछ कहने
कितनी नंगी जान पड़ती है

हमारे सुचिन्तित विचारवान
चिन्ता के ढोंग में रंग बदलते सुधिजन
जीभ की विवशता नहीं देखते
देखते बस उसका अप्रभावी होना

धन्य है प्रभो!
यह किसी पराजित भाषा में ही संभव है
कि बोलने वाले अपराधी
और न सुनने वाले बाइज्ज़त बरी!

दुनिया की महान उपलब्धियों के लिए एक शोकगीत

खालीपन दौड़ता है पसलियों के बीच धड़कते नन्हें से दिल में
दिन की रफ्तार रातों में घुलती चली जाती है
हर बार आशंकाएँ चील की तरह झपट्टा मारती है
हर बार छूट जाता है आदमी अपनी परछायी के साथ
बिल्कुल अकेला

नमकीन रौशनी में चमकते थे जो लिपे-पुते चेहरे
अँधेरे के आँचल में सिर छुपाए देर तक सुबकते हैं
मृत्यु दिन-ब-दिन आसान हुई जाती है
बेकारों की टोली से कम होते जाते हैं कुछ चेहरे
ज़िन्दगी मिट्टी का ढेला

शेयर बाज़ार का साँड़ हुँकराता है किसानों की हड्डियों में
कम्प्यूटर की मंदी में अर्थहीन हो जाती है खाद की तेजी
जीवन भर थकहारकर कमाता है किसान एक मजबूत फंदा
बँधा था जो आस की रस्सी से, टूट जाता है वह
ज़िन्दगी का रेला

भूगोल के दरवाजे पर

तरुन भटनागर

जब तक मैंने वहाँ के बाशिंदो को नहीं देखा था, पहले-पहल वह गाँव ठेठ ही लगा। यह बात थी उन्नीस सौ अस्सी की। वह गाँव इतना ठेठ लगा था, कि लगता है वह आज भी जस का तस है। रुका हुआ और अ-बदला।

छत्तीसगढ में वह समुद्र तल से सबसे अधिक ऊंचाई पर बसी जगह है।

वहाँ के रहवासी हमारे यहाँ के नहीं जाने जाते हैं। उन लोगों को देखकर उस गाँव का ठेठपन चुकने लगता है और उसकी जगह अजीब सा बेगानापन घिर आता है। लंबे बीते समय ने यह जतलाया कि चपटी खोपड़ी वाले ये लोग दूसरों से अलग नहीं हैं, सिवाय इसके कि वे अलग दिखते है। ....और यह भी कि इस गाँव में बीते पचास सालों में और उस दिन जब मैं वहाँ गया था, बीत चुके छब्बीस सालों में, उन्होंने यह मानने की भरसक कोशिश की है कि यह जमीन, यह आकाश, यह जंगल, दूर तक फैले हरे घास के मैदान, लोग, जानवर....सब उनके ही तो हैं। वे आज भी एक झूठा ढाढस खुद को देते हैं, पर जैसे वे हमेशा जानते रहेंगे, कि उनके लिए सारे रास्ते बंद हो चुके हैं। झूठ के जंग खाये फौलादी दरवाजे से बंद। अपनेपन का झूठ। जो कोई रास्ता नहीं सुझाता, बस बेहद अबूझ तरीके से उन लोगों को चहकाये रखता है।

मैनपाट। छत्तीसगढ के सरगुजा जिले का एक गाँव। समुद्र तल से लगभग पांच हजार फीट ऊपर। पूरे छत्तीसगढ में इससे ऊपर कोई और गाँव नहीं है।

इतिहास बताता है, कि जब उन्नीस सौ पचास में उनसे उनकी जमीन, घर, परिवार,.... सबकुछ छीन लिया गया था, तब वे लाखों की संख्या में एक अनिश्चित आस के साथ हमारे यहाँ आये थे। उन्हें जहां - जहां बसने को जगह दी गई थी, मैनपाट भी उनमें से एक है। मैनपाट में उनका गाँव बसा था। जो आज भी वहाँ है, पर लोग इसे एक घूमने फिरने वाली जगह के रूप में जानते हैं। यह एक हिल स्टेशन जाना गया। आज भी। और यह बात कम ही जानी गई, कि यह

जगह पचास साल पहले बेघर कर दिये गये, बहुत दूर के और बिल्कुल अल्हदा से लोगों की जगह है। बिना दावे की जगह। एक जगह जो दशकों बीत जाने के बाद भी उनकी नहीं है और जो सैंकड़ों साल बीतने के बाद भी शायद उनकी ना हो पाये।

वे लोग एक खत्म कर दिये गये देश के लोग हैं। इस तरह खत्म कि याद भी नहीं आता। अगर पूछा जाय कि वह देश भारत का पड़ोसी था और इतना बड़ा कि आज का पाकिस्तान भी छोटा पड़ जाय, तो एकबारगी खयाल ना आये। यदि कहा जाय कि वह दुनिया का सबसे अधिक ऊंचाई पर बसा देश था और भारत से उसकी सबसे लंबी सीमा रेखा मिलती थी, तो थोड़ा अजीब लगे कि पता नहीं किस जगह की बात हो रही है।

उस दिन हम दस स्कूली बच्चे अपने स्काउट मास्टर और गाइड मास्टरनी के साथ मैनपाट आये थे। वह शाम थी और हमें वहाँ की प्राथमिक शाला के एक भवन में आगे पांच दिनों तक रहना था। स्काउट मास्टर ने बताया था, कि इसे 'आउटिंग' कहते हैं। उस रात हमें उस गाँव के सिर्फ दो लोग मिले थे, जिन्हें मास्टर और हमारे आने का पता था। वे मुझे अजीब से लगे थे - पीला रंग, छोटी-छोटी आंखें, धंसे हुए गाल, उभरी गाल की हड्डी, चमकता चेहरा, सफाचट और अधकचरी दाढी-मूंछ, ठिगना कद, छोटे-छोटे खड़े काले बाल,.....इतनी ठण्ड में भी उन्होंने बहुत कम कपड़े पहन रखे थे। फिर उनमें से एक कुछ देर बाद एक केतली में चाय लेकर आया। मक्खन वाली तिब्बती चाय। पीते हुए मुझे उबकाई आई थी।

'उस देश का नाम तिब्बत था।' मास्टर ने बताया

मैनपाट मास्टर की पसंदीदा बात थी। वह मैनपाट पर चहककर कहता था। यूं वह तिब्बत पर भी कहता था। वह मैनपाट और तिब्बत पर कहता तो लगता उसके मुंह से कोई और कह रहा है। वह तिब्बत पर अक्सर काफी कुछ हांकता रहता और हम चुप्पी साधे उसे घूरते रहते। वह कहता कि मैनपाट में, बिल्कुल पराये देश के लोग हैं। कि उस देश का नाम तिब्बत था। कि छब्बीस साल पहले चीन ने इस देश पर कब्जा कर लिया था। कि वह देश फिर खत्म हो गया। कि अब उस देश की जगह बस उस देश के खण्डहर हैं। कि अब खण्डहर भी नहीं हैं। कि खण्डहरों में यादें होती हैं, इसलिए उन्हें भी मिटाया जा चुका है। कि उस देश में अब भी उतनी ही बर्फ पडती है और उतनी ही सूखी और सुंइयो सी भेदनी वाली हवा बहती है, जैसे पहले बहती थी....। कि वह बर्फ और वह हवा अपने उन लोगों को ढूँढती है, जो वर्षों पहले बिना किसी वजह के जहालत के साथ और वहशियाना तरीके से बेघर कर दिये गये थे, वहाँ से भगा दिये गये । वे इस तरह बेघर किये गये कि वे उसका कारण नहीं पूछ सकते थे। क्योंकि पूछना अपराध हो गया था। कि जानने की कोशिश का मतलब मौत था। कि प्रश्न का जवाब बलात्कार था। कि उत्सुकता के मायने थे, कैदखाने की यातना या बर्फ के सूखे तूफान में अकड़कर मर जाना। कि एक औरत को सिर्फ इसलिए मार डाला गया था, कि उसकी आंखों में उत्सुकता थी और एक चीनी सेना का अधिकारी उसकी आंखें देखकर अचकचा गया था।

कि बहुत बुरा हुआ और वे लाखों लोग थे। कि वे अपने देश में, अपने घर में थे। अपने देश, अपने घर में कोई पराया या अजनबी नहीं होता है। उन्हें तो जानबूझकर इस अनजान जगह पर ढकेलकर अजनबी और पराया बनाया गया है, ताकि जब लोग उन्हें देखें तो सशंकित हों, अचंभित हों या उन पर हँसे और जब, वे लोगों को देखें तो किसी अनिश्चित से भय और संदेह से उनकी आंखें चौड़ी हो जायें। कि उन्हें बार-बार लगे कि , वे किसी पराये देश में चिड़ियाघर के अजूबे जीव-जन्तुओ की तरह जी रहे हैं....। कि..... कि ये लोग अच्छे हैं , पर लोगों ने नहीं

समझा कि ये अच्छे हैं.....नहीं तो बताओ क्या जरूरत थी इनको हमारे लिए मक्खन की चाय लाने की, बोलो-बोलो। .... मास्टर कई बेतुकी सी बातें कहता और फिर चुप होकर इधर-उधर ताकता। कभी अचानक चुप होकर तुच्छ सी चीजों को ताकने लगता, तो कभी एकदम से बदलकर कोई नई बात चालू कर देता। उसके यूं चुप हो जाने से मुझे लगता कि मास्टर के पास मैनपाट और तिब्बत की आधी कहानी है। शायद आधे से भी कम। लेकिन वास्तव में उसे बहुत कुछ पता था। उसने हमें जितना बताया था, उससे कई गुना बातें वह तिब्बत के बारे में कर सकता था। बहुत सारी बातें उसने कभी नहीं बताईं। हर बार उसकी गप्प किसी चुप्पी पर पहुंचकर अटक जाती थी या अचानक अकारण खत्म होकर नये सिरे से कोई नई बात हो जाता था। हम सिर्फ अनुमान ही लगा पाते थे। उसके चुप होने में हम एक लंबी कहानी को तलाशते। कभी उसकी आवाज लड़खड़ाती और अटक-अटक कर खत्म हो जाती। हम अनुमान लगाते कि अटकने और लड़खड़ाने में कौन सी कहानी है?इस तरह हर बार अधूरी छूटकर या अटककर भी वह कहानी कभी खत्म नहीं हुई। मास्टर की अधूरी छूटी चुप्पी में शब्द बडे तरतीब से लगे थे। तिब्बत की बार-बार अधूरी छूटती कहानी के कई कई मायने थे, जिन्हें तलाशकर कहानी के टूटे सिरे फिर-फिर जुड़ जाते थे।

दरअसल मास्टर पहले भी कई बार मैनपाट आया था। और यहाँ के एक तिब्बती से मास्टर की अच्छी छनती थी। उसका नाम सुलू था। वह हजारों बार मैनपाट से नीचे उतरकर मास्टर से मिलने आता था और मास्टर भी सैंकड़ों बार मैनपाट की पहाड़ियों पर चढता उतरता रहता था। सुलू हमें बड़ा अजीब लगता था।

वह हमें अजीब-अजीब चीजों के बारे में बताता और हम उन अटपटे नामों पर हंसते। कि उसका गाँव ग्यान्त्से शहर के पास था। कि उसके पास एक सुंदर थांगका याने तिब्बतियन तस्वीर जैसा कुछ है। कि साल का पहला दिन लोजार होता है। कि उसने अनि त्सान्खुंग नुनेरी और चान्गझू के मंदिर देखे हैं। कि सबसे अच्छा गोम्पा जोखांग है और इसके बाद कुम्बुम और दोरजे द्रक। कि हम सब बच्चों को अच्छे हीरो, याने गेजार के माफिक होना चाहिए । कि हम सब जब उसके घर आयेंगे तो वह हमें मोमोस खिलायेगा। कि.....। हम उसकी बात पर हंसते, उसके तिब्बतियन शब्द हमें हंसा देते ।

हमें उसकी और मास्टर की दोस्ती में कुछ बू आती थी। हम छोटे थे और यह मानते थे, कि हर छोटी ऑख वाला और पीली त्वचा वाला आदमी चीनी होता है। छोटी आंख वाले, ठिगने पीले लोगों के लिए हमारे पास कुछ शब्द थे- चीनी, ऐ चीनी, चीनी चांउ, चांउ.....। सो हम सुलू को चिढाते थे- चीनी, ऐ चीनी, चीनी चांउ, चांउ .....। और.....सुलू आगबबूला होकर हमें मारने को दौड़ता। एक दिन सुलू यह सब मास्टर को बताते-बताते रुआंसा हो गया। हमें बड़ा अजीब लगा, क्योंकि हमने तब तक पैंसठ-सत्तर साल के किसी बुड्ढे को हमारे चिढाने पर, इस तरह रुआंसा होते नहीं देखा था। अलबत्ता गुस्सा होते जरूर देखा था और उसके गुस्से का मजा लेने के लिए ही हम उन्हे चिढ़ाते थे। मास्टर ने हम सबको स्कूल के बरामदे में घुटने के बल टिका दिया। उसने हम सबकी हथेलियों पर बार-बार सटा-सट बैंत चलाई। हम रोने लगे। फिर सुलू आया और उसने मास्टर को कहा कि वह ऐसा ना करे।

.....मास्टर ने हमें सख्त हिदायत दी कि हम उसे चीनी ना कहें। कि वह तिब्बती है, चीनी नहीं और ये दोनों चीजें बिल्कुल अलग हैं। मास्टर ने बड़ी सख्ती से बताया कि ये दोंनों चीजें अलहदा हैं और यह भी कि हर किसी को यह जानना चाहिए कि तिब्बती और चीनी दो अलग

चीजें हैं। उसने यह भी बताया कि जब वह हमारी तरह छोटा था और स्कूल में पढ़ता था,तो स्कूल की किताब में लिखा होता था, कि तिब्बत एक देश है। उसमें लिखा था, कि हिमालय के उत्तर में एक बहुत सुंदर जगह है, जिसके बारे में बहुत कम लोग जानते हैं। कहते हैं यह जगह पांच किलोमीटर से भी ज्यादा ऊंची है, व्योम मण्डल के सबसे पास और इसीलिए इसे देवताओं की भूमि भी कहते हैं। कि यह एक देश है। बिल्कुल दूसरे देशों की तरह, अलग और अपने आप में रचा बसा। किताबों में यह भी लिखा होता था कि, इस देश की राजधानी ल्हासा है। पर आज के छात्र यह सब नहीं जानते। क्योंकि वे दूसरी किताबें पढते हैं । उनकी किताबों में तिब्बत का नाम ही नहीं है। मास्टर हमसे पूछता- 'बताओ बताओ है क्या ?बोलो बोलो'। हम सब एकसाथ चिल्लाते 'नहीं'। मास्टर हमसे पूछता 'क्या भारत के पड़ोसी देशों में तिब्बत का नाम आता है?' हम सब एकसाथ चिल्लाते 'नहीं'।

मास्टर हमारी सामाजिक विज्ञान की किताब उठा लेता ।उसके सारे पन्ने एक साथ फुरफुराता पलटता- 'देखो देखो इसमें तिब्बत कहीं भी नहीं है।' फिर कुछ सोचता। थोडा संभलता और हमें समझाने की कोशिश करता। वह कहता-

'जमीन उसकी होती है, जो उस पर कब्जा कर लेता है। जमीन ही क्या, रोड, पुल, नाले, नदियां, मकान, जंगल, पहाड़,... श्याने वह सबकुछ जो दीखता है। वह सब जो हम रोज देखते हैं, वास्तव में उसका है, जिसने उसपर कब्जा कर लिया। इसी तरह कोई भी देश उसका होता है, जो उसे जीत लेता है। किसी देश को जीतने के कई तरीके होते हैं। पर सबसे आसान है, जबरदस्ती घुस आओ और ताकत के बल पर कब्जा कर लो। फिर वहाँ के लोगों को वहाँ से खदेड़ दो। जैसा कि तिब्बत में हुआ।'

मास्टर बताता कि इस तरह एक देश दूसरे देश को जीत लेता है। जीतने के साथ ही उसे एक और अधिकार मिल जाता है। वह है, किताबें लिखने का अधिकार। कि यह दुनिया का कायदा है, किताबें वही देश लिखेगा जो जीत चुका हो। हर किताब किसी विजेता ने ही लिखी है। जैसे तुम्हारी यह सामाजिक विज्ञान की किताब। दुनिया की तमाम किताबों की तरह तुम्हारे पाठ्यक्रम की यह किताब भी किसी विजेता ने ही लिखी है। हारे हुए देश या तो किताब लिखते ही नहीं हैं और अगर लिखते हैं तो उनकी किताबें चलती नहीं हैं। कम से कम पाठ्यक्रम में तो आ ही नहीं सकतीं। चूँकि हर किताब किसी जीते हुए देश ने लिखी है, इसीलिए उसमें हारे हुए देशों और जगहों के बारे में कुछ भी नहीं होता है। जैसे तुम्हारी यह सामाजिक विज्ञान की किताब। मास्टर उसके पन्ने फरफराता और बहुत धीरे से फुसफुसाते हुए कहता, तिब्बत एक हारा हुआ देश है और इसलिए इस किताब में वह नहीं है। तुम पाठ्यक्रम में हारे हुए देशों का नाम नहीं ढूंढ़ सकते। क्योंकि वे वहाँ हैं ही नहीं। चूँकि किताबों का लेखक एक विजेता है इसलिए उसने हारे हुए देश या परास्त हो चुकी जगहों के बारे में उसमें नहीं लिखा है। ऐसी जगहें वहाँ हो ही नहीं सकतीं। पाठ्यक्रम ही क्या दुनिया कि किसी भी किताब में हारे हुए देशों का नाम नहीं मिल सकता। तुम्हें किसी भी किताब में हारे हुए देशों के गीत और कहानियां नहीं मिलेंगी। किसी भी किताब में हारे हुए देश के लोगों के बारे में कुछ भी नहीं लिखा होता है। किसी भी किताब में नहीं मिलेगा कि हारे हुए देश के लोग कौन हैं, वे कहां रहते हैं, क्या पहनते हैं, कैसे रहते हैं.....कहीं कुछ भी नहीं मिल सकता है। तुम पूरा बाजार छान मारो, चाहे अंबिकापुर चले जाओ, चाहे उससे भी आगे रायपुर या दिल्ली, या उससे भी आगे, तुम्हें एक किताब नहीं मिलेगी जिसमें लिखा हो कि एक देश है, जिसका नाम तिब्बत है। तुम बड़ी से बड़ी लाइब्रेरी में एक भी किताब नहीं ढूंढ़ सकते जिसमें

लिखा हो कि तिब्बत एक देश है और दूसरे देशों की ही तरह उसकी अपनी राजधानी है, अपनी मुद्रा है। तुम एक किताब नहीं ला सकते जिसमें लिखा हो कि भारत की सबसे लंबी सीमा रेखा जिस देश से मिलती है, उसका नाम तिब्बत है। हारने का मतलब सिर्फ हारना नहीं होता है, इसका मतलब है स्मृति में से मिटा दिया जाना.... हार मतलब वह चीज जो कभी दर्ज नहीं की जा सकती है, जैसे तिब्बत कभी किताबों में दर्ज नहीं किया जा सकता है। जिन जगहों का नाम किताबों में नहीं हो सकता है, उन्हीं जगहों को हम साधारण भाषा में हारी हुई जगहें कहते हैं। इसी तरह हारे हुए लोग वे लोग होते हैं, जो अब तक किताबों में नहीं आ पाये। किताबें विजेताओं के गलत बखानों से भरी पड़ी हैं। उनमें सच नहीं है। उनमें विजेताओं की वीरता के अतिश्योक्तिपूर्ण गीत हैं। उनके किस्से झूठ हैं। हां किताबों की बातें सरासर झूठ हैं....।

मास्टर कहीं और देख रहा होता और हम मास्टर को। फिर मास्टर कहते कहते एकदम से रुक जाता और हमारी तरफ मुड़कर कहता, कि यह कितना भयंकर है, कि वह और सुलू ऐसे लगते हैं जैसे दो बिल्कुल अलग अलग प्रजाति के जानवर।..... पर यह गलत है, कि तिब्बत का नाम किताबों से भी हटा दिया जाय। लाखों लोग, विशाल जमीन पर किताबों में एक शब्द नहीं। ठीक है, तिब्बत ग्लोब में नहीं है। मास्टर कहता कि, एटलस में भी नहीं है । नहीं है, दुनिया जहान के नक्शों में। नहीं है देश-दुनिया में। चर्चा में भी नहीं है। रोज के रेडियो में भी नहीं है। मास्टर कहता कि वह रोज सुबह पेपर में तिब्बत को ढूंढ़ता है, पर वह कभी उसे मिला नहीं। कि तिब्बत पर कहीं कोई फिल्म नहीं दीखी। संयुक्त राष्ट्र संघ की सूची में भी नहीं है तिब्बत। नहीं है, ओलंपिक के झण्डाबरदार खिलाड़ियों की परेड में । नहीं है, डाक टिकटों में। कि तिब्बत की कोई मुद्रा नहीं, नहीं उसका कोई झण्डा। कहीं नहीं, किसी देश में नहीं तिब्बत का कोई राजदूत, कोई एम्बेसेडर। संसार में कहीं नहीं तिब्बत का कोई दतर.....। कि तिब्बत पर कहीं कोई कविता नहीं। मास्टर कहता कि कभी पढ़ी नहीं तिब्बत पर कोई कविता। कहते हैं तिब्बत की कविता का होना, विजेता के विचार के विपरीत होना है । कहते हैं, तिब्बत की कविता का होना चीन के विपरीत होना है। मास्टर कहता कि जो चीन के विपरीत होता है, उसे कविता नहीं कहा जाता है। किसी कविता के कविता होने के लिए उसे चीन का होना जरुरी है। मास्टर कहता कि नहीं पता चलती है, तिब्बत की कोई कहानी। माना कि तिब्बत कहीं भी नहीं है ,पर यह गलत है, कि उसका नाम किताबों से भी हटा दिया जाय। यह बिल्कुल गलत है, कि यह पढ़ाया जाय कि तिब्बत नाम का कोई देश नहीं। यह गलत है, कि सामाजिक विज्ञान की किताब में तिब्बत को लिखना गलत हो जाय।'

मास्टर ने हम सबको कहा, कि हम सब अपनी - अपनी सामाजिक विज्ञान की किताबों में तिब्बत का नाम लिख लें। मास्टर ने हमें डराते हुए, सख्ती से कहा और कक्षा सात की सामाजिक अध्ययन की किताब में एशिया के देशों और उनकी राजधानी की लिस्ट में सबसे नीचे हम सब बच्चों ने अपनी आड़ी-ढेड़ी हैंडरायटिंग में पेन और पेंसिलों से लिख लिया- देश - तिब्बत, राजधानी-ल्हासा मास्टर ने कक्षा सात की सामाजिक विज्ञान की कुल जमा दस किताबों को बार-बार चैक किया। हर किताब में लिख दिया गया था, देश-तिब्बत, राजधानी-ल्हासा ।

उस जंगली आदिवासी क्षेत्र में बसे उस अनजाने गाँव के उस तुच्छ से मिडिल स्कूल में ये दो शब्द बड़े धैर्य से और मास्टर के डर से लिखे गये थे। देश-तिब्बत, राजधानी-ल्हासा संसार की एकमात्र किताब में मास्टर के डर से लिखे दो शब्द थे, जिन्हें मास्टर बार- बार घूरता जैसे कोई मां अपने नवजात को घूरती है। मास्टर ने बताया था कि, सातवीं कक्षा की ये दस किताबें दुनिया की

एकमात्र किताबें हैं, जिनमें तिब्बत का नाम हो पाया है। वे एकमात्र किताबें हैं, जिनमें लिखा है- देश- तिब्बत, राजधानी-ल्हासा। दुनिया में ऐसी कोई और किताब नहीं, जिसमें ये दो शब्द लिखे हों। तिब्बत ही क्या वे तो एकमात्र ऐसी किताबें हैं, जिनमें किसी हारे हुए देश का नाम हो पाया है।

वह दिन था, कि फिर हमने कभी सुलू को चीनी कहकर नहीं चिढ़ाया।

उन दिनों हम बहुत छोटे थे। उन दिनों तिब्बत उस तरह नहीं था, जिस तरह अब लगता है। बचपन में तो तिब्बत एक बात थी, एक पाठ था, जो हमने कई बार सुना, एक सा बार-बार सुना पाठ, गहन सन्नाटे में, मास्टर को ताकते, एक दूसरे का चेहरा घूरते और उन शब्दों को तौलते जो अक्सर समझ नहीं आये। तिब्बत एक अनुमान था, अंधेरे में उंगलियों की टटोल था तिब्बत, मास्टर की उन बातों का जो कहीं खो जाती थीं, अचानक छूटकर खत्म हो जाती थीं। उन दिनों तिब्बत एक अनिवार्यता थी, मास्टर को सुनने की अनिवार्यता, जो मास्टर के डर से उस गाँव की कक्षा सात में फैल जाती थी। इस तरह तिब्बत कुछ और था और मास्टर के लाख बताने के बाद भी वह हम बच्चों के लिए एक देश की तरह नहीं हो पाया था। हम मान नहीं पाये थे कि तिब्बत एक देश है। वह तो हमारे बचपन में किताब में लिखे दो शब्द थे। तिब्बत मतलब मास्टर के डर से सामाजिक विज्ञान की किताब में लिखे दो शब्द। तिब्बत मतलब, देश-तिब्बत, राजधानी-ल्हासा। तब लगता ही नहीं था, कि तिब्बत कोई जगह है। उन दिनों तिब्बत को मैंने अक्सर मैनपाट की पहाड़ियों और सातवीं कक्षा के सामाजिक विज्ञान के बीच चहलकदमी करते हुए देखा था और हमें पता ही नहीं था, कि यह तिब्बत है और यह सामाजिक विज्ञान।

मास्टर एक दिन सुलू को हमारी कक्षा में लाया था। उसने उसे हमारी सामाजिक विज्ञान की किताब में लिखे ये दो शब्द उसे दिखाये थे। उसने बताया कि हम सबने अपनी अपनी किताबों में यह लिखा है। देश-तिब्बत, राजधानी-ल्हासा। सुलू ने हमारी कुछ किताबों में लिखे इन दोनों शब्दों को छूकर देखा था। सुलू ने बहुत देर तक अपनी उंगलियां देश- तिब्बत, राजधानी-ल्हासा पर टिकाये रखे थीं। देश- तिब्बत, राजधानी-ल्हासा पर टिकी उसकी उंगलियां कांप रही थीं। फिर वह कक्षा के खाली ब्लैकबोर्ड को देखने लगा था। उस ब्लैक बोर्ड पर कुछ भी नहीं था। सुलू लगातार उस ब्लैकबोर्ड के कुछ भी नहीं को घूर रहा था। मास्टर ने उसके कंधे पर हाथ रख दिया था। सुलू की आंखों में पानी की एक बूंद उभर आई थी। मास्टर ने उसे अपनी बाहों में भर लिया था। हम सब कुछ देर तक उन दोनों को देखते रहे थे। मुझे सुलू को सुबकता देख कुछ अजीब सा लगा था। बाद में मैं देर तक अपनी किताब में खुद का लिखा देश- तिब्बत, राजधानी - ल्हासा देखता रहा था। मैंने उन दो शब्दों को उसी तरह छुआ जैसे सुलू ने छुआ था, पता नहीं मुझे क्या हुआ, मैंने अपने दोस्तों को चिल्लाकर कहा-

'हां हम सुलू को कभी चीनी कहकर नहीं चिढ़ायेंगे। कभी नहीं।'

उस दिन मास्टर हमें सुलू की वजह से ही मैनपाट आउटिंग के लिए ले गया था, पर उसे एक और विशेष काम से वहाँ जाना था। बस हमें इतना ही पता था, कि उसे सुलू से कुछ बात करनी थी। और उस बात को करने के लिए वह सबसे पूछ रहा था कि वह, कब और कैसे उससे वह बात करे?मास्टर की सुलू से दोस्ती बड़ी पुरानी थी, लगभग पंद्रह साल पुरानी और करीब दो दिन पहले से एक दूसरा तिब्बती मास्टर से कहता फिर रहा था कि, वह सुलू से वही बात करे। कि बस वही वह बात कर सकता है। कि उसकी बात का असर होगा। बस वही बात मास्टर को करनी थी।

उस रात जब उस बेस्वाद मक्खन की चाय और बिस्कुट खाने के बाद हम सब सोने की

तैयारी कर रहे थे, तब वह दूसरा तिब्बती आया था। फिर मास्टर, गाइड वाली मास्टरनी और वह तिब्बती काफी देर तक बात करते रहे। कमरे में पुआल बिछी थी और पुआल पर दरी पड़ी थी, हम सब दरी में अपने-अपने कंबलों में घुसे थे और वे तीनों लालटेन के किनारे बैठे बात कर रहे थे। उन दिनों मैनपाट में लाइट नहीं थी।

'तुम्हें कब से पता है?'

मास्टरनी बहुत उत्सुक थी, उसकी आंखें फैली थीं और माथे पर एक गहरी सीधी लकीर उभर आई थी।

'तीन दिन पहले मुझे यह पत्र मिला था। तिब्बतियन में लिखा है। मैं हमेशा की तरह सुलू को इसे पढ़कर सुनाना चाहता था।'

मास्टर ने कहा। मास्टर को तिब्बतियन आती थी और हमने कई बार उसे सुलू के सामने बैठे तिब्बतियन में लिखी किताब या पत्र पढ़ते देखा था। सुलू अपढ़ था और उसके पत्रों का मतलब उसे समझाना मास्टर का एक महत्वपूर्ण काम था।

'पांच साल बीत गये। हे भगवान। पांच साल और किसी ने उसे अब तक कुछ नहीं बताया।'

मास्टरनी ने अचरज से मास्टर को देखा और मास्टर ने हॉ में गर्दन हिलाई। मतलब पता है। पर क्या पता है?मैं कंबल में पड़े-पड़े उस बात को, उस फुसफुहाट में जानने की कोशिश करता रहा। वह बात जिसका ओर-छोर समझ नहीं आ रहा था। वे तीनों हम सबके सोने के बाद भी फुसफुसा रहे थे, मानो हम उनकी बात जान जायें तो अनर्थ ही हो जाये।

.....फुसफुसाहट से एक बात समझ आ गई थी, कि मैनपाट के कुछ लोग तिब्बत जा रहे थे। कि कोई बहुत बड़ा आदमी है, जिसका नाम है दलाई लामा। और उसीने यह व्यवस्था कराई है, कि गाँव के दस लोग एक बार तिब्बत हो आयें। वह दूसरा तिब्बती उन दस लोगों की लिस्ट बना रहा है। वह, वह लिस्ट बार-बार मास्टर को दिखाता है। मास्टरनी भी उस लिस्ट को उलट-पलटकर देखती है।.....फिर तीनों फुसफुसाने लगते हैं। उस दूसरे तिब्बती की बात से यह भी लगा कि, वह नहीं चाहता है कि सुलू भी तिब्बत जाये। उसने सुलू को समझाया है, कि वह ना जाये। पर सुलू जिद पर अड़ा है। कहता है, वह जायेगा। हां, वह जरूर जायेगा। वह तिब्बती कहता है, कि लिस्ट में गाँव के सबसे बुजुर्ग ऐसे दस लोगों का नाम भेजना है, जो तिब्बत जाना चाहते हों। सुलू अगर जिद पर अड़ा रहता है, तो उसे ले जाना पड़ेगा और अगर वह नहीं जाता है, तो यह मौका किसी दूसरे तिब्बती को मिल जायेगा। दूसरे को मौका तभी मिलेगा जब सुलू जाने से इंकार कर दे। क्योंकि वह सबसे बुजुर्ग है और उसका हक बनता है। सो वह चाहता है कि मास्टर उसे समझाये। मास्टर समझायेगा तो वह मान जायेगा। मास्टरनी कहती है, क्या अंतर पड़ता है, सुलू को ले जाने में.....ले जाओ। खामखां जिद करते हो.....। फिर तीनों खुसुर पुसुर करने लगते हैं। तीनों की बात सुनते-सुनते मुझे नींद आ गई।

सो अगले दिन सुबह, मैं और मास्टर पानी लेने के लिए निकले थे। हैण्डपंप थोड़ा दूर था। आगे-आगे धोती-कुरता पहरे, सर पर अंगोछा लपेटे मास्टरजी और पीछे-पीछे बाल्टी लोटा लिये, दूसरे हाथ में छाता पकड़े मैं। हैण्डपंप के पास वह तिब्बती फिर मिल गया। मास्टर ने उससे कहा-चलो अच्छा आज बात कर ही लेते हैं। वह तिब्बती हमें गाँव की ओर ले गया। आगे-आगे वह तिब्बती उसके पीछे मास्टर और मास्टर के पीछे मैं ।

वह तिब्बती हमें गाँव की आखिरी सीमा पर ले गया। वहाँ दूर-दूर तक घास का मैदान था।

तीन-चार पत्थर खपरैल के घर थे, जिसके सामने रंग बिरंगे स्कर्ट ब्लाउज और गाउन पहनी तिब्बती औरतें, बेचने के लिए तैयार किये तरह-तरह के स्वेटर सुखा रही थीं और मैदान में दूर-दूर तक कुछ बच्चे, चीखते चिल्लाते पंतग उड़ा रहे थे। दूर एक गोम्पा था, जिससे एक लंबी भेंपूनुमा आवाज आई थी। उसके चारों ओर रंगीन कपड़ों के हजारों तिकोने टुकड़े, हजारों रंग नीले आकाश पर लहरा रहे थे। चीखते चिल्लाते बच्चों के बीच, उनकी हरकतों पर ताली बजाता एक बूढ़ा इधर-उधर डोल रहा था। वह सुलू था।

सुलू ने मास्टर से हाथ मिलाया, उस दूसरे तिब्बती को देखा और यूं प्रदर्शित करने लगा मानो जानता हो, कि मास्टर उससे क्या बात करने आया है।

'यह सही कहता है।'

'तो तुम भी मानते हो मास्टर। बताओ मैं क्यों ना जाऊं। मैं सबसे बूढ़ा हूं और मैंने तिब्बत जाने के लिए इंतजार किया है। पिछले पच्चीस सालों का इंतजार। मैंने पच्चीस सालों से अपना घर, अपना परिवार नहीं देखा ....।'

मास्टर कुछ कहते-कहते रुक गया। सुलू कहता रहा।

'पच्चीस साल। क्या तुम गिन सकते हो?पच्चीस सालों को कोई नहीं गिन सकता। कोई अपने घर के लिए, अपने परिवार के लिए पच्चीस साल नहीं गिन सकता। पर मैंने गिना और फिर भी तुम कहते हो कि वहाँ जाना बेमतलब है। अंततः बेमतलब।'

सुलू मास्टर को घूरने लगा। मास्टर ने मुंह बिचकाया और वह पत्र मुठ्ठी में भींच लिया।'

'यह तुम्हारे लिए था। मैंने ही मास्टर को कहा था, कि वह तुम्हें सबकुछ सच-सच बता दे।'

उस तिब्बतियन ने मास्टर के हाथ में भिंचे उस पत्र की ओर इशारा करते हुए कहा। सुलू ने मास्टर के हाथ से वह पत्र छीन लिया और उसे उलट पलटकर देखने लगा।

'मुझे यह तीन दिन पहले मिला था। मैं कुछ डर गया था और सोच रहा था कि जल्द ही यह पत्र तुम्हें पढ़ दूंगा।'

मास्टर अटकते हुए बोल रहा था। वह दूर दिखते गोंपा पर नजर गड़ाये था और लगातार बोल रहा था।

'वहाँ अब कोई नहीं है। मेरा मतलब तिब्बत में, तुम्हारे गाँव में अब उनमें से कोई नहीं है। अर्सा बीता जब चीनी सेना ने वह गाँव खाली कराया था। कहते हैं, कि बहुत से लोग मारे गये थे। उनके पास खाने को नहीं था, रहने को नहीं था ..... उनके कपड़े, अनाज सब जला दिये गये थे। उन्हें कहा गया था, कि वे दुबारा वहाँ नहीं आयें .... आयेंगे तो सेना उन्हें मार डालेगी। उन लोगों का कुछ पता नहीं चला।... बाद में कुछ लोगों ने पता भी करना चाहा था, कि वे सब कहां हैं, खासकर तुम्हारा बेटा और उसका परिवार.... लेकिन फिर उनमें से कोई नहीं मिला और एक दिन..... उनको तुम्हारा पता चला और फिर यह पत्र आया दलाई लामा के मार्फत....। वे सब मारे गये। तुम्हारा बेटा, बहू और दो बच्चे....वे गुमे नहीं थे, जैसा कि लोग समझते रहे..... वे सब मारे गये। कुछ लोग कहते हैं, कि वे सब काफी दिनों तक बियावान बर्फ के रेगिस्तान में भटकते रहे थे .....। शायद वे बर्फ के तूफान में मर गये । यह सब पांच साल पहले हुआ था। अब तुम्हारा वहाँ जाना बेमानी है। यह ठीक कहता है सुलू तुम नहीं जाओगे तो यह चांस किसी और को मिल जायेगा।'

उस पत्र में कुछ और भी था जो मास्टर ने सुलू को नहीं बताया। मास्टर अचानक चुप हो गया था । वह अब भी लगातार गोंपा को देखे जा रहा था। उस तरफ देखने को कुछ भी नहीं था।

सुलू खडा रहा। उस पत्र को बहुत गहरे देखते, उन शब्दों को जो उसके लिए हमेशा से अर्थहीन रह आये थे। वह मुड़ा। मैंने उसे दूर जाते देखा। मैंने उसे उकडूं बैठते और अपना सिर घुटने के बीच अपनी हथेलियों से दबाते हुए देखा। थोड़ी देर बाद हम सबको उसकी चीख-चीखकर रोने की आवाज सुनाई देती रही। गाँव के कुछ बुजुर्ग उसकी तरफ दौड़े। औरतें और बच्चे बातें और हल्ला गुल्ला छोड़कर उसको एकटक देख रहे थे। सब कुछ शांत था, बस सुलू चीख चीख कर रो रहा था। उसका रोना मैनपाट की पहाड़ियों पर से गूंजकर वापस आ रहा था। सुलू और मैनपाट की पहाड़ियों के अलावा वहाँ और कोई शोर नहीं था। गोंपा के रंग बिरंगे तिकोने आकाश पर फरफरा रहे थे। लोग बुत बने खड़े थे।

उस दूसरे तिब्बती ने तिब्बत जाने वाले लोगों की लिस्ट में से सुलू का नाम काटकर किसी और का नाम लिख दिया था। लिखते समय उसकी उंगली कांप रही थी।

मैनपाट में वह हमारा आखरी दिन था। मास्टर का काम हो गया था और उसके कहे अनुसार काम खत्म होते ही हमें एक पल भी वहाँ नहीं रूकना था। हम उसी रात लौट आये।

घर लौटकर मैंने माँ को बताया था, कि मैनपाट में बिल्कुल अलग तरह के लोग रहते हैं। बिल्कुल अलग किस्म के लोग। एकदम अलग। और तो और वहाँ के बूढ़े बिल्कुल बच्चों की तरह रोते हैं। सुलू तो ऐसे रो रहा था जैसे बच्चे रोते हैं, चिल्ला-चिल्ला कर.....। चीख चीख कर। सच माँ वो बिल्कुल अलग तरह के लोग हैं। बिल्कुल अलग। ना कभी सुने। ना कभी जाने। .... उनको देखकर भी अजीब लगता है, कि वे हैं। कि ये वही हैं। यकीन ही नहीं होता।

सुलू फिर बहुत दिनों तक नहीं दिखा।

कुछ दिनों बाद छत्तीसगढ़ के उस जंगली, आदिवासी और सुदूर के उस अनजान से गाँव में, एक तुच्छ सी घटना हुई। उस साल मिडिल स्कूल की वार्षिक परीक्षा में सातवीं कक्षा के सामाजिक अध्ययन के पेपर में एक प्रश्न आया। प्रश्न था, भारत के सीमावर्ती देशों का नाम लिखो ?हम सबने किताबों, गाइडों, कुंजियों, नोटबुकों,... से इस प्रश्न का जो जवाब रटा था, उसमें तिब्बत का नाम नहीं था। हमने वैसा ही लिखा। हमने भारत के पड़ोसी देशें में तिब्बत का नाम नहीं लिखा। रटे हुए उत्तरों में तिब्बत कहीं नहीं था। किताबों से पढ़े जवाबों में वह हो भी नहीं सकता था। मास्टर ने हमारी इस गलती पर हम सबके एक-एक नंबर काट दिये।

बरसों बीते। २६ साल से भी ज्यादा। तिब्बत कहीं नहीं दीखा। बहुत तलाशता हूं, पर जैसे वह कहीं नहीं है। ना एटलस में। ना ग्लोब में। ना किताबों में। ना खबरों में। ना बातचीत में।.....

तिब्बत आज भी वैसा ही है, जैसा बचपन में था। तिब्बत का मतलब आज भी एक सुदूर जंगली गाँव में बड़े अपनेपन से सुनी गई एक कहानी है। एक बेहद अपरिचित, अनजान किस्सा, जो अब तक विश्व के नक्शे पर नहीं आ पाया।

तिब्बत मतलब एक गप्प, मास्टर की आग्रहभरी पुकार वाली गप्प, जो शायद किसी मीडिया के कमरे में पड़ा हो कागजों में लिपटा, जिसे कभी शायद खोला जाय। तिब्बत मतलब मास्टर का पढ़ाया एक पाठ, जो हमेशा गलत रह आया। एक पाठ जिसे पढ़ाया जाय तो लोग मजाक करें, हंस पड़ें। एक पाठ जिस पर परीक्षा में शून्य अंक मिलें। एक पाठ, जो लगता है, शायद कभी किसी किताब में आ जाये और परीक्षा में बटोर ले जाये अपने हिस्से के अंक।

तिब्बत एक घटना, जो अक्सर किसी जंगली सुदूरवर्ती गाँव के अनजाने से मिडिल स्कूल में घटित होती है। तिब्बत, कुछ बच्चों के बचपन की कहानी, जिसके एक सिरे को वे बड़े होकर दुनिया के नक्शे में, भूगोल में टटोलते रहे थे। बचपन की एक कहानी, जो तब से आज तक

भूगोल के दरवाजे पर पड़ी है। तिब्बत याने एक खालीपन, एक बेचारगी.... जो लगता है, कहीं खत्म ही ना हो। तिब्बत, एक भूला बिसरा प्रसंग, जिस पर शायद कभी उजली उजली आंखों से चहककर बात करने का जी हो आये। तिब्बत याने दशकों पहले संसार के एक बेहद ठण्डे, सफेद और निर्जन इलाके में मारे गये ढाई लाख मासूमों का एक खाली बैनर, जिस पर कभी कोई नारा लिखा जाये शायद।

सच तिब्बत तनिक भी नहीं बदला। तिब्बत आज भी वैसा ही है। तभी तो आज भी अक्सर जब मैं कोई किताब पढ़ रहा होता हूं, तो मास्टर ना जाने कहां से अचानक आ जाता है। मेरे हाथ से किताब छीन लेता है और किताब को फरफराते उलटते-पलटते, बहुत आहिस्ते से संभलकर कहता है- मत पढ़ो यह किताब। विश्वास करो, जो विजेता है, जो जीत चुका है, उसी ने यह किताब लिखी है। वही तो किताबें लिखता है। हर किताब किसी ना किसी विजेता ने ही तो लिखी है।

भूमंडलीकरण और भारतीय भाषाएँ

डॉ. समुर्तींद्र नाडिग

अनुवाद : प्रो. (डॉ.) टी.आर.भट्ट

मैं 16 दिसम्बर 1997 में के.सी. माम्मन् माप्पळा मेमोरियल व्याख्यान देने दिल्ली गया था। वहाँ न्यूयार्क टैम्स के मैनेजिंग एडिटर यूजिन राबर्ट्स ने भारतीय पत्रिकाओं के प्रबंधन में विदेशियों के हस्तक्षेप के खिलाफ व्याख्यान दिया। उन्होंने यह कहा कि विदेशी मालिक एक तो यहाँ के पाठकों से दूर होते हैं और यहाँ के समाज से दूर रहकर सेवा-कार्य उनके लिए असंभव है। अतः उन्हें मालिक नहीं बनना चाहिए। उन्होंने यह विरोध करते हुए कहा कि अमरीका की दो पत्रिकाओं के मालिक केनडा के हैं।

अब मैं बहुराष्ट्रीय कंपनियों के संबंध में बात कर रहा हूँ जो भारत में प्रकाशन-संस्थाएँ चला रही हैं। पुस्तकें, शिक्षा और संस्कृति के बीच में परस्पर गहरा संबंध है। ये बहुत सूक्ष्म संवेदना के क्षेत्र हैं। सुना है कि ऐसे सूक्ष्म संवेदना के क्षेत्र को न पहचान कर भारत सरकार ने विदेशी लोगों को पुस्तक प्रकाशन-संस्था चलाने की अनुमति दी है। सुना है कि बटरवर्त कंपनी 'एयर लॉ जनरल' (Air Law Journal) खरीदने जा रही है। साथ ही और भी कई कंपनियाँ पुस्तक के उद्योग को खरीदने को तैयार हैं। हमें चाहिए कि उन्हें हमारे पुस्तकोद्यम को नाश करने नहीं देना है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ यहाँ क्यों आती हैं? उनके यहाँ आने का कारण यही है कि हमारे देश भर में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम है। हम लोगों ने ऐसी अंग्रेजी भाषा को भारत के भविष्य को तय करने का अवकाश दिया है जिसकी कोई जड़ यहाँ नहीं है। डॉ. नटराजन् कहते हैं कि- ''भारत के बाज़ार पर विदेशियों की नजर है। साथ ही हमारे यहाँ सस्ता मानव संसाधन भी है। हमारे यहाँ औद्योगीकरण की मजबूत नींव पड़ी है। अंग्रेजी जानने वाले बहुत लोग हैं।''

हमारे यहाँ उच्च वर्ग के अमीर लोग और हमारे राजनीतिज्ञ उपनिवेशी-बुद्धि के रोग से

पीड़ित हैं। वे यह सोचते हैं कि हमारा जीवन तभी सार्थक होगा जब हमारे बच्चे अंग्रेजी-माध्यम में पढ़-लिख कर अमरीका, इंग्लैण्ड आदि देशों में जाकर नौकरी करें। ऐसे ही अंग्रेजी-ब्राह्मण आई. ए.एस. आदि परीक्षा पास करके प्रशासन चला रहे हैं। हमारे नौकरशाहियों को अंग्रेजी माध्यम का स्कूल ही चाहिए। हमारे देश में अंग्रेजी पढ़ाने के लिए बहुत-सा धन व्यय किया जा रहा है। सब तरफ कान्वेंट स्कूल खुल रहे हैं। हम लोग मम्मी, डैडी, चिकन, कोका-कोला, मिस इंडिया आदि की संस्कृति को बढ़ावा दे रहे हैं।

मैं कवि हूँ इसीलिए आपके समझने योग्य रूपक-भाषा में बोल रहा हूँ। आप यह सोचें कि सभी भारतीय भाषाएँ पेड़ हैं। इन पेड़ों के लिए यहाँ की मिट्टी, पानी, हवा, प्रकाश, आकाश हैं। लेकिन इंग्लीश नामक पेड़ यहाँ इस मिट्टी में उगता नहीं है। वह अमरबेल के जैसे बाकी पेड़ों पर पनपता है। आपको मालूम है कि परोपजीवी कैसे जीवित होती है। पेट की कृमि बाहर जी नहीं सकती। वह केवल हमारे पेट में जीवित होती है। इसी तरह अमरबेल एक पेड़ पर आश्रित होती है और उस पेड़ के छाल पर जीवित रहकर, पेड़ की शाखाओं के रसनाल में अपनी जड़ फैलाते हुए पेड़ के सत्व को खाकर पनपने लगती है। अंत में आश्रयदाता पेड़ को सुखा देती है। इस प्रकार अंग्रेजी माध्यम पर निर्भर होने से बड़ा खतरा है।

मैं अंग्रेजी भाषा का विरोधी नहीं हूँ। मैंने अंग्रेजी में दो एम.ए. डिग्रियाँ ली हैं। उनमें एक तो अमरीका में पायी है। मैंने तीस साल तक अंग्रेजी से कन्नड़ में, कन्नड़ से अंग्रेजी में अनुवाद किया है। इसलिए कह रहा हूँ कि मैं अंग्रेजी विरोधी नहीं हूँ। लेकिन मैं अंग्रेजी को शिक्षा के माध्यम के रूप में स्वीकार करने का विरोध कर रहा हूँ। अंग्रेजी विकसित होने के लिए इंग्लैंड, अमरीका, आस्ट्रेलिया आदि देशों की मिट्टी है, हवा है, प्रकाश है, आकाश है। भारत की मिट्टी उसके लिए अनुकूल नहीं है। इसलिए उसे परोपजीवी के रूप में यहाँ रहना पड़ता है। अमरबेल तो अंत में पूरे पेड़ को सुखा देती है। हमारे सब पेड़-पौधे सूखने के बाद हमारा देश रेगिस्तान बन जाता है।

हमारी मातृभाषाएँ हमारी अपनी संस्कृति की अभिव्यक्ति भी है, संस्कृति की रक्षक भी हैं। अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से अपनी संस्कृति की रक्षा संभव नहीं है। अंग्रेजी भाषा में हमारी संस्कृति को पीढ़ी से पीढ़ी तक पहुँचाने का संस्कार नहीं है। जिन्हें पाश्चात्य संस्कृति या क्रैस्त संस्कृति की आवश्यकता है वे लोग अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम अपना सकते हैं। इस प्रकार की संस्कृति भारत में कितने लोगों को चाहिए?हमारा अपना देश है, भाषा, साहित्य, कलाएँ हैं, धर्म है, संस्कृति है। इसीलिए उन्हें सुरक्षित रखने के लिए पहले हमारी अपनी अपनी भाषाएँ शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए। हमारी संस्कृति, हमारी रीति-रिवाज, मनुष्य-संबंध, भोजन, विश्वास आदि हर हमारे दैनिक व्यवहार में घुल-मिल गए हैं। वह हमारी भाषा के माध्यम से एक से और एक तक फैलता जाता है। वह हमारे मनोलोक, भावलोक, बुद्धिलोक, व्यवहार लोक की हर क्रिया को सरल कराते हैं। हमारे अपने लोगों से परस्पर अपना सुख-दुःख बांटने के लिए अपनी भाषा को छोड़ कर दूसरी किसी भी भाषा से आत्मीयता पैदा नहीं होती। इसीलिए कन्नड़ प्रांत से जो बाहर जाते हैं वे वहाँ कन्नड़-संघ की स्थापना करते हैं, अपने पुरोहित लोगों को बुलाते हैं, मंदिर बनवाते हैं, त्यौहार मनाते हैं। कन्नड़ सुनते ही उन्हें आनंद होता है। दूसरे प्रांत के कन्नड़ के लोग उनका सत्कार करते हैं। जब कन्नड़ भाषा रोज के व्यवहार में नहीं है तो कभी एकाधबार सुनने से उसका महत्व मालूम होता है। परस्पर भावात्मक संबंध जो हमारी अपनी भाषा से जुड़ता है वह अंग्रेजी से संभव नहीं है। हमें अपना अंतरंग समझना है तो हमारी अपनी भाषा कन्नड़, तमिल या मलयालम या हिन्दी चाहिए ही।

जन्म, नामकरण, विवाह, मृत्यु आदि जीवन के अनेक अवसरों पर हम अपनी भाषा को छोड़ नहीं सकते, भूल नहीं सकते। आज 'हेप्पी बर्थडे' कह कर केक काटने में हम आनंद लेते हैं। दूसरी तरफ नहाकर, माता-पिता, भगवान को नमन कर, नया पोशाक पहन कर, मित्रों के साथ खाना खाने में जो आनंद मिलता है वह एकदम अलग है, विशिष्ट है। यहाँ हमारी संस्कृति आनंद को बांटना सिखाती है, सूक्ष्म रूप से प्रकट करने की रीति दिखाती है। लेकिन पाश्चात्य संस्कृति के जैसे प्रदर्शन सिखाती नहीं। इसी कारण २८ वर्ष के पहले मैं अमरीका छोड़कर आ गया हूँ। मैं अमरीका देश की सेवा करते हुए डॉलर कमाते हुए वहीं मर सकता था। लेकिन मैंने उसे पसंद नहीं किया। हमारे देश में जो सांस्कृतिक संपत्ति है, वह किसी भी देश में नहीं है। मुझे एक व्यक्ति से कवि के रूप में विकसित होने के लिए कन्नड़ या भारतीय परिसर ही आवश्यक था। इसीकारण से मैं अमरीका छोड़ कर भारत आ गया।

मेरी अपनी भाषा के माध्यम से घर का रसोईघर, स्नानगृह, घर के बर्तन, घर के चारों ओर के पेड़-पौधे, मेरे मानवीय संबंध मुझसे परिचित हो गए हैं। इसी तरह इडली, उपमा, दोसा, रसं, सांभर आदि अनेक प्रकार की खाने की चीजें हैं। अंग्रेजी भाषा में इनके लिए शब्द ही नहीं हैं। चाचा, चाची, तऊ, मामा, मामी आदि अंग्रेजी में सब 'अंकल' 'आँटी' बन जाते हैं। इंग्लीश संस्कृति हमारे बाज़ार में घुस जाने के कारण 'युगादि' (चैत मास की पहली तिथि) की अपेक्षा 'न्यू इयर ईव', 'न्यू इयर डे' हमारे लिए महत्वपूर्ण हो जाता है। 'युगादि' त्यौहार में आम के पत्तों से घर सजाने की क्रिया, रंगोली, अभ्यंजन, नये कपड़े पहनना, नीम-गुड़ आपस में बांटना-आदि के बजाय 'न्यू इयर ग्रीटिंग' भेजना ही हमारी संस्कृति बन जाती है। अंग्रेजी संस्कृति हमारी पारंपरिक शादी-समारोह का वैभव, मंत्रोच्चार, लोकगीत गायन, मृष्टान्न भोजन, खीर आदि पद्धति को नष्ट कर रजिस्टर्ड शादी की प्रथा, नृत्य, पार्टी आदि प्रथा फैलाती हैं। इस देश में जो भी सांस्कृतिक विविधता है उन सब को नष्ट कर देती है। क्योंकि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से यह आचरण कर नहीं सकते और हमारे जीवन की पद्धतियों को, विश्वासों को जिंदा रखना संभव नहीं होता। भारत की आर्थिक नीति और शिक्षा-पद्धति पर गाँधीजी ने और टैगोर ने विचार करते हुए 'स्वदेशी' पर बल दिया था। लेकिन इसको हमने आगे बढ़ाय नहीं। इसी कारण से हर राज्य में वहाँ की मातृभाषा शिक्षा का माध्यम बनना चाहिए। भारत की भाषाओं में परस्पर संबंध होने के कारण ही बुद्ध, महावीर, शंकर आदि का दर्शन पूरे भारत में छा गया था। भारत की किसी भी भाषा में हम शिक्षा पायेंगे तो हमारी संस्कृति अपनी बनती है। हजारों वर्षों के पूर्व दक्षिण भारत के कोने-कोने से हमारे लोग हिमालय पहुँचते थे। उनके रास्ते में कई भाषाओं के प्रदेश होते हुए भी उनकी यात्रा आगे बढ़ती थी। क्योंकि हमारी भाषाओं के बीच में परस्पर गहरा संबंध है। इस प्रकार का भाषा-बांधव्य अंग्रेजी और कन्नड़, अंग्रेजी और मलयालम, अंग्रेजी और हिन्दी के बीच बिल्कुल नहीं है।

आप लोगों को अरब और ऊँट की कहानी तो मालूम होगी! एक अरब अपने टेंट में लेटा था। तब एक ऊँट आकर कहने लगा कि 'मुझे थोड़ी-सी जगह दे दो।' अरब ने कहा कि 'यहाँ जगह है ही नहीं।' फिर ऊँट ने कहा ''कम से कम अपने सिर रखने छोटी-सी जगह दे दो।'' अरब ने सिर रखने जगह दी। तब ऊँट ने अपने सिर अंदर रखकर धीरे-धीरे अपने शरीर को अंदर खींच कर अरब को टेंट से बाहर निकाला। अंग्रेजी माध्यम रूपी ऊँट भी यही काम करता है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ हमारी प्रकाशन-संस्थाओं को खरीद लेती हैं। पहले हमारी अंग्रेजी

प्रकाशन-संस्थाओं को खरीदती हैं। कानून-पुस्तकों के हक को विदेशी प्रकाशक खरीद लेंगे तो हमारे लायरों का धन विदेशी कंपनी को चला जाता है। वे अंग्रेजी पत्र-पत्रिकाओं को खरीद लेती हैं। उसके बाद हमारे यहाँ अंग्रेजी-स्कूलों को अधिक संख्या में खुलवाने का प्रयत्न करती हैं। हमारे राजनीतिज्ञ भी उनकी मदद करते हैं। उन्हें तो धन चाहिए। बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ केवल धन ही नहीं, स्काच, विस्की भी देती हैं; फ्रेंच वैन दिलाती हैं, रशियन 'वोड्क' दिलाती हैं। जो चाहिए दिलाती हैं। थैलेंड, ग्वाटेमालाद, क्यूबा, फ्रान्स की सभी तरह की औरतें दिलाती हैं। हमारे देश को लेकर क्या करना है उन्हें। स्वर्ग-सुख के पीछे पड़कर राजनीतिज्ञ हमारे देश को बेच देते हैं।

बहुराष्ट्रीय विदेशी-कंपनियों को मालूम है कि पूरे देश को खरीदना उन्हें उतना आसान नहीं। इसीलिए वे हमारे कारखानों में, होटलों में, औद्योगिक संस्थाओं में, कॉलेजों में सहभागिता लेती है। फिर धीरे धीरे वे जगह खरीद कर संस्थाएँ खोलती हैं, पर खरीद कर खुद ही किराये पर देती हैं। हमें काम के लिए उनकी कंपनी में जाना पड़ता है। अगर वे नौकरी से निकालेंगे तो हम अनाथ होते हैं।

वे हमारे खेतों में बोने के बीज का हक भी खरीद लेते हैं। वे अपनी इच्छा के अनुसार हमें नचाते हैं। लेकिन 'ईस्ट इंडिया कंपनी' से प्रभावित बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इंग्लीश, डच, फ्रेंच, पोर्तुगीज के जैसे हमारे देश को फिर से गुलाम बनाना चाहती हैं। भविष्य में हमारे बच्चों की आँखें जापानियों जैसी हो जाती हैं। अमरीका, फ्रान्स के लोगों का रंग आ भी सकता है। सौ वर्षों के बाद फिर से स्वातंत्र्य के लिए हमें लड़ना होगा। तब हमारे देश में और एक गाँधी, सुभाष, नेहरू, पटेल, तिलक, अंबेडकर आदि को नायकत्व संभालना होगा।

आज अंग्रेजी माध्यम के स्कूल बढ़ रहे हैं। इसे देखकर और एक ऊँट की कहानी याद आती है। यह मनुष्य की दुराशा से संबंधित कहानी है। ऊँट की गाड़ी पर स्टील की पट्टी भर कर ले जाते हैं। लारी पर कितना सामान भर कर ले जाते हैं! बस के टॉप पर कितने लोगों को बिठा कर ले जाते हैं! इसी तरह एक अरब ऊँट पर घास की गठरी लादता चला गया। वह जितना भार वहन करता जाता है उतना उसके ऊपर चढ़ाता गया। अंत में एकाध घास को उसके ऊपर रखते ही ऊँट टूटकर गिर पड़ा।

हमारे ऊँट पर अंग्रेजी-घास का गट्ठा चढ़ाया जा रहा है। अंत में एकाध घास रूपी बहुराष्ट्रीय कंपनी यहाँ की सभी पुस्तक प्रकाशन-संस्थाओं को अपने वश में ले सकती है। तब कन्नड़- ऊँट, गुजराती- ऊँट, मलयालम- ऊँट टूट-टूट कर गिर पड़ेंगे।

अंग्रेजी के व्यापक प्रचार के लिए बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ भारत के लेखकों को अंग्रेजी में लिखने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। एक बड़ा उपन्यास कन्नड़ में लिखेंगे तो उसका मूल्य करीब ३०० रु. रखा जाता है। ५००० प्रतियाँ बिक सकती हैं। लेखक को करीब डेढ़ लाख गौरव धन मिल सकता है। लेकिन वही उपन्यास अंग्रेजी में लिखेंगे तो दस लाख रुपये गौरव धन मिलेगा तो कितने लोग नहीं लिखेंगे?हम बिक रहे हैं। इसीलिए हम अंग्रेजी सीखते हैं। बाद में हम गुलाम बनते हैं। व्यास, वाल्मीकि, उपनिषद् आदि को भूल कर बैबल खरीदेंगे और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रजा बनेंगे।

लगता है कि मैंने बहुत ज्यादा कह दिया। जो पाश्चात्यीकरण से प्रभावित हैं वे मेरी बातें पसंद नहीं करेंगे। मैं केवल उनके लिए कह रहा हूँ जो सच्चे अर्थ में विकसित होना चाहते हैं। भारत की एक भाषा से दूसरी भाषा में अनूदित उपन्यास अंग्रेजी से अनूदित उपन्यास से अधिक रुचिकर लगता है और हमें आनंद देता है। कारण यह है कि भारत की संस्कृति एक ही है। सब के

लिए पसंद का चरित्र है, हमारा अपना भौगोलिक परिसर है। हमारे मनोलोक के यथार्थ में परस्पर संबंध है। इसीलिए शिवराम कारंत, मास्ति वेंकटेश अय्यंगार, कवि कुवेंपु, तकजी शिवशंकर पिळळे, एम.टी. वासुदेवन नायर, प्रेमचन्द, शरत्चंद्र, टैगोर, जयकांतन, सच्चिदानंद रावुत राय आदि हमें प्रिय बनते हैं। ये लेखक हमारे लिए तो डिकन्स, थाकरे, जायूस, पूस्ट्र, हेमिंगवे, फक्नर, बरनार्ड् मालमुड आदि पाश्चात्य लेखकों से श्रेष्ठ हैं।

हमें अंदाज नहीं कि अब तक अंग्रेजी शिक्षा ने कितना नुकसान पहुँचाया है। 'इनकम् टैक्स एक्ट' 'क्रिमिनल प्रोसिजर कोड', न्याय पद्धति आदि अंग्रेजी में ही हैं। आज कन्नड़, तमिल, हिन्दी आदि भाषाएँ अंग्रेजी सिखाने की शैली में सिखायी जा रही हैं। हम समझते हैं कि पाश्चात्यों का अनुकरण करना ही आधुनिकता है। पाश्चात्य देशों में अपने लाभ के लिए आर्थिक नीति, विदेश नीति बदल देते हैं। लेकिन हम उनकी नीति अनुसरण करने की दृष्टि से हमारी विदेशी-नीति बदल लेते हैं। कुछ पाश्चात्य लेखक जब यहाँ आते हैं वे यह दिखाते नहीं कि वे टैगोर को जानते हैं। कहते हैं, हमने टैगोर को पढ़ा नहीं है। लेकिन हम यह कहते हैं कि हमें सब कुछ मालूम है, हम अपने यहाँ कि साहित्य को पढ़े बिना बाकी साहित्य के संबंध में बोलते हैं। हम सोचते हैं कि अपने साहित्य के संबंध में लिखेंगे या बोलेंगे तो मान्यता नहीं मिलती। लेकिन अमेरिकन् साहित्य पर लिखेंगे तो 'फुल ब्रैट स्कालरशिप' मिलेगा या किसी इंटरनेशनल सेमिनार के लिए आमंत्रण मिल सकता है।

हमारे देश के संबंध में, अपनी संस्कृति के संबंध में, चरित्र के संबंध में और साहित्य के संबंध में आज हम गर्व का अनुभव नहीं करते। हम में स्वाभिमान नहीं। देश को स्वतंत्रता मिलने के इतने वर्षों के बाद भी हमारे मन में स्वातंत्र्य की भावना नहीं आयी है। हमारी गुलामी-बुद्धि अब भी बदली नहीं है।

लेखकों के पते

रज़ी अहमद गांधी संग्रहालय, पटना
इन्द्रनाथ चौधुरी 183 टैगोर पार्क, दिल्ली-110009
वीरेन्द्र कुमार बरनवाल गायत्री बी-72 कोशांबी, गाजियाबाद-201010 (उ.प्र.)
राजकिशोर अतिथि लेखक, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र)
श्रीभगवान सिंह 205 श्याम अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर-812001 (बिहार) मोबाइल 09801055395
एम.थॉमस मैथ्यु 'विजय निलयम', इंचिपरंपु रोड, तृक्काक्करा,कोच्चि-682021
ऊषा नायर असिस्टेंट प्रो. डिपार्टमेण्ट ऑफ हिंदी, सेंट टेरेसा कॉलेज, अर्नाकुलम, कोच्चि 682011
प्रो.निर्मला जैन ए-20/17 डीएलएफ, फ़ेज-1 कुतुब एन्कलेव, गुड़गाँव
विजय बहादुर सिंह 29 निराला नगर, दुष्यन्त कुमार मार्ग, भोपाल-462003
अरुण कुमार हिंदी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, झारखंड
पल्लव फ्लैट न.393 डी.डी.ए., ब्लॉक सी एवं डी, कनिष्क अपार्टमेंट, शालीमार बाग, नई दिल्ली-110088 फोन : 011-27498876
ऋषिकेश राय उप निदेशक (राजभाषा), टी.बोर्ड 14,बी.टी.एम.सरणी (ब्रेबोर्न रोड), कोलकाता-700001 मो. 09903700542
प्रयाग शुक्ल एच-416,पार्श्वनाथ प्रेस्टीज, सेक्टर-93ए, नोएडा0201304 (उ.प्र.) मो. 09810973590 ई-मेल : prayagshukla@gmail.com
जितेंद्र श्रीवास्तव हिंदी संकाय, मानविकी विद्यापीठ, ब्लॉक-एफ, इग्नू, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110068 मो.09818913798
वसंत त्रिपाठी हिंदी विभाग, श्रीमती बिंझानी महिला महाविद्यालय, महल, नागपुर-440002
तरुन भटनागर ए-10 सुरेंद्र एस्टेट, चूना भट्टी, भोपाल मो. 09425191559
समुतींद्र नाडिग न.38, अपूर्व, 1-मेन ,3फ़ेज़, 6 ब्लॉक, बनशंकरी,3 स्टेज, बैंगलोर-560085
प्रो, टी.आर.भट्ट 'प्रज्ञाश्री' छठा क्रॉस, कल्याण नगर, धारवाड़ (कर्नाटक) 580007 मो. 09449634716